अपि—भी; **योध-मुख्यैः**—मुख्य योद्धा; **वक्त्राणि**—मुखों में; **ते**—आपके; **त्वरमाणाः**—तेजी से; **विशन्ति**—प्रवेश कर रहे हैं; **दंष्ट्रा**—दाँत; **करालानि**—विकराल; **भयानकानि**—भयानक; **केचित्**—उनमें से कुछ; **विलग्नाः**—लगे रहकर; **दशन-अन्तरेषु**—दाँतों के बीच में; **सन्दृश्यन्ते**—दिख रहे हैं; **चूर्णितैः**—चूर्ण हुए; **उत्तम-अङ्गैः**—शिरों से।

धृतराष्ट्र के सारे पुत्र अपने समस्त सहायक राजाओं सहित तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारे प्रमुख योद्धा भी आपके विकराल मुख में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कुछ के शिरों को तो मैं आपके दाँतों के बीच चूर्णित हुआ देख रहा हूँ।

तात्पर्य : एक पिछले श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को वचन दिया था कि यदि वह कुछ देखने का इच्छुक हो तो वे उसे दिखा सकते हैं। अब अर्जुन देख रहा है कि विपक्ष के नेता (भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा धृतराष्ट्र के सारे पुत्र) तथा उनके सैनिक और अर्जुन के भी सैनिक विनष्ट हो रहे हैं। यह इसका संकेत है कि कुरुक्षेत्र में एकत्र समस्त व्यक्तियों की मृत्यु के बाद अर्जुन विजयी होगा। यहाँ यह भी उल्लेख है कि भीष्म भी, जिन्हें अजेय माना जाता है, ध्वस्त हो जायेंगे। वही गति कर्ण की होनी है। न केवल विपक्ष के भीष्म जैसे महान योद्धा विनष्ट हो जाएँगे, अपितु अर्जुन के पक्ष वाले कुछ महान योद्धा भी नष्ट होंगे।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

यथा—जिस प्रकार; **नदीनाम्**—नदियों की; **बहवः**—अनेक; **अम्बु-वेगाः**—जल की तरंगें; **समुद्रम्**—समुद्र; **एव**—निश्चय ही; **अभिमुखाः**—की ओर; **द्रवन्ति**—दौड़ती हैं; **तथा**—उसी प्रकार से; **तव**—आपके; **अमी**—ये सब; **नर-लोक-वीराः**—मानव समाज के राजा; **विशन्ति**—प्रवेश कर रहे हैं; **वक्त्राणि**—मुखों में; **अभिविज्वलन्ति**—प्रज्ज्वलित हो रहे हैं।

जिस प्रकार नदियों की अनेक तरंगें समुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार ये समस्त महान योद्धा भी आपके प्रज्ज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

यथा—जिस प्रकार; **प्रदीप्तम्**—जलती हुई; **ज्वलनम्**—अग्नि में; **पतङ्गाः**—पतिंगे, कीड़े मकोड़े; **विशन्ति**—प्रवेश करते हैं; **नाशाय**—विनाश के लिए; **समृद्ध**—पूर्ण; **वेगाः**—वेग; **तथा एव**—उसी प्रकार से; **नाशाय**—विनाश के लिए; **विशन्ति**—प्रवेश कर रहे हैं; **लोकाः**—सारे लोग; **तव**—आपके; **अपि**—भी; **वक्त्राणि**—मुखों में; **समृद्ध-वेगाः**—पूरे वेग से।

में समस्त लोगों को पूर्ण वेग से आपके मुख में उसी प्रकार प्रविष्ट होते देख रहा हूँ, जिस प्रकार पतिंगे अपने विनाश के लिए प्रज्ज्वलित अग्नि में कूद पड़ते हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।। ३० ।।

लेलिह्यसे—चाट रहे हैं; **ग्रसमानः**—निगलते हुए; **समन्तात्**—समस्त दिशाओं से; **लोकान्**—लोगों को; **समग्रान्**—सभी; **वदनैः**—मुखों से; **ज्वलद्भिः**—जलते हुए; **तेजोभिः**—तेज से; **आपूर्य**—आच्छादित करके; **जगत्**—ब्रह्माण्ड को; **समग्रम्**—समस्त; **भासः**—किरणें; **तव**—आपकी; **उग्राः**—भयंकर; **प्रतपन्ति**—झुलसा रही हैं; **विष्णो**—हे विश्वव्यापी भगवान्।

हे विष्णु! मैं देखता हूँ कि आप अपने प्रज्ज्वलित मुखों से सभी दिशाओं के लोगों को निगले जा रहे हैं। आप सारे ब्रह्माण्ड को अपने तेज से आपूरित करके अपनी विकराल झुलसाती किरणों सहित प्रकट हो रहे हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।। ३१ ।।

आख्याहि—कृपया बताएँ; **मे**—मुझको; **कः**—कौन; **भवान्**—आप; **उग्र-रूपः**—भयानक रूप; **नमः अस्तु**—नमस्कार हो; **ते**—आपको; **देव-वर**—हे देवताओं में श्रेष्ठ; **प्रसीद**—प्रसन्न हों; **विज्ञातुम्**—जानने के लिए; **इच्छामि**—इच्छुक हूँ; **भवन्तम्**—आपको; **आद्यम्**—आदि; **न**—नहीं; **हि**—निश्चय ही; **प्रजानामि**—जानता हूँ; **तव**—आपका; **प्रवृत्तिम्**—प्रयोजन।

हे देवेश! कृपा करके मुझे बतलाइये कि इतने उग्ररूप में आप कौन हैं? मैं आपको नमस्कार करता हूँ, कृपा करके मुझपर प्रसन्न हों। आप आदि-भगवान् हैं। मैं आपको जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं नहीं जान पा रहा हूँ कि आपका प्रयोजन क्या है।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।। ३२ ।।

श्रीभगवान् उवाच–भगवान् ने कहा; **कालः**–काल; **अस्मि**–हूँ; **लोक**–लोकों का; **क्षय-कृत्**–नाश करने वाला; **प्रवृद्धः**–महान; **लोकान्**–समस्त लोगों को; **समाहर्तुम्**–नष्ट करने में; **इह**–इस संसार में; **प्रवृत्तः**–लगा हुआ; **ऋते**–बिना; **अपि**–भी; **त्वाम्**–आपको; **न**–कभी नहीं; **भविष्यन्ति**–होंगे; **सर्वे**–सभी; **ये**–जो; **अवस्थिताः**–स्थित; **प्रति-अनीकेषु**–विपक्ष में; **योधाः**–सैनिक।

भगवान् ने कहा–समस्त जगतों को विनष्ट करने वाला काल मैं हूँ और मैं यहाँ समस्त लोगों का विनाश करने के लिए आया हूँ। तुम्हारे (पाण्डवों के) सिवा दोनों पक्षों के सारे योद्धा मारे जाएँगे।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन जानता था कि कृष्ण उसके मित्र तथा भगवान् हैं, तो भी वह कृष्ण के विविध रूपों को देखकर चकित था। इसलिए उसने इस विनाशकारी शक्ति के उद्देश्य के बारे में पूछताछ की। वेदों में लिखा है कि परम सत्य हर वस्तु को, यहाँ तक कि ब्राह्मणों को भी, नष्ट कर देते हैं। *कठोपनिषद्* का (१.२.२५) वचन है–

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

अन्ततः सारे ब्राह्मण, *क्षत्रिय* तथा अन्य सभी परमेश्वर द्वारा काल-कवलित होते हैं। परमेश्वर का यह रूप सबका भक्षण करने वाला है और यहाँ पर कृष्ण अपने को सर्वभक्षी काल के रूप में प्रस्तुत करते हैं। केवल कुछ पाण्डवों के अतिरिक्त युद्धभूमि में आये सभी लोग उनके द्वारा भक्षित होंगे।

अर्जुन लड़ने के पक्ष में न था, वह युद्ध न करना श्रेयस्कर समझता था, क्योंकि तब किसी प्रकार की निराशा न होती। किन्तु भगवान् का उत्तर है कि यदि वह नहीं लड़ता, तो भी सारे लोग उनके ग्रास बनते, क्योंकि यही उनकी इच्छा है। यदि अर्जुन नहीं लड़ता, तो वे सब अन्य विधि से मरते। मृत्यु रोकी नहीं जा सकती, चाहे वह लड़े या नहीं। वस्तुतः वे पहले से मृत हैं। काल विनाश है और परमेश्वर की इच्छानुसार सारे संसार को विनष्ट होना है। यह प्रकृति का नियम है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

तस्मात्–अतएव; **त्वम्**–तुम; **उत्तिष्ठ**–उठो; **यशः**–यश; **लभस्व**–प्राप्त करो; **जित्वा**–जीतकर; **शत्रून्**–शत्रुओं को; **भुङ्क्ष्व**–भोग करो; **राज्यम्**–राज्य का; **समृद्धम्**–सम्पन्न; **मया**–मेरे द्वारा; **एव**–निश्चय ही; **एते**–ये सब; **निहताः**–मारे गये; **पूर्वम् एव**–पहले ही; **निमित्त-मात्रम्**–केवल कारण मात्र; **भव**–बनो; **सव्य-साचिन्**–हे सव्यसाची।

अतः उठो! लड़ने के लिए तैयार होओ और यश अर्जित करो। अपने शत्रुओं को जीतकर सम्पन्न राज्य का भोग करो। ये सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं और हे सव्यसाची! तुम तो युद्ध में केवल निमित्तमात्र हो सकते हो।

तात्पर्य : *सव्यसाची* का अर्थ है वह जो युद्धभूमि में अत्यन्त कौशल के साथ तीर छोड़ सके। इस प्रकार अर्जुन को एक पटु योद्धा के रूप में सम्बोधित किया गया है, जो अपने शत्रुओं को तीर से मारकर मौत के घाट उतार सकता है। *निमित्तमात्रम्*—"केवल कारण मात्र" यह शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संसार भगवान् की इच्छानुसार गतिमान है। अल्पज्ञ पुरुष सोचते हैं कि यह प्रकृति बिना किसी योजना के गतिशील है और सारी सृष्टि आकस्मिक है। ऐसे अनेक तथाकथित विज्ञानी हैं, जो यह सुझाव रखते हैं कि सम्भवतया ऐसा था, या ऐसा हो सकता है, किन्तु इस प्रकार के "शायद" या "हो सकता है" का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृति द्वारा विशेष योजना संचालित की जा रही है। यह योजना क्या है? यह विराट जगत् बद्धजीवों के लिए भगवान् के धाम वापस जाने के लिए सुअवसर (सुयोग) है। जब तक उनकी प्रवृत्ति प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने की रहती है, तब तक वे बद्ध रहते हैं। किन्तु जो कोई भी परमेश्वर की इस योजना (इच्छा) को समझ लेता है और कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करता है, वह परम बुद्धिमान है। दृश्यजगत की उत्पत्ति तथा उसका संहार ईश्वर की परम अध्यक्षता में होता है। इस प्रकार कुरुक्षेत्र का युद्ध ईश्वर की योजना के अनुसार लड़ा गया। अर्जुन युद्ध करने से मना कर रहा था, किन्तु उसे बताया गया कि परमेश्वर की इच्छानुसार उसे लड़ना होगा। तभी वह सुखी होगा। यदि कोई कृष्णभावनामृत से पूरित हो और उसका जीवन भगवान् की दिव्य सेवा में अर्पित हो, तो समझो कि वह कृतार्थ है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

द्रोणम् च—तथा द्रोण; **भीष्मम् च**—भीष्म भी; **जयद्रथम् च**—तथा जयद्रथ; **कर्णम्**—कर्ण; **तथा**—और; **अन्यान्**—अन्य; **अपि**—निश्चय ही; **योध-वीरान्**—महान योद्धा; **मया**—मेरे द्वारा; **हतान्**—पहले ही मारे गये; **त्वम्**—तुम; **जहि**—मारो; **मा**—मत; **व्यथिष्ठाः**—विचलित होओ; **युध्यस्व**—लड़ो; **जेता असि**—जीतोगे; **रणे**—युद्ध में; **सपत्नान्**—शत्रुओं को।

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य महान योद्धा पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। अतः तुम उनका वध करो और तनिक भी विचलित न होओ। तुम केवल युद्ध करो। युद्ध में तुम अपने शत्रुओं को परास्त करोगे।

तात्पर्य : प्रत्येक योजना भगवान् द्वारा बनती है, किन्तु वे अपने भक्तों पर इतने कृपालु रहते हैं कि जो भक्त उनकी इच्छानुसार उनकी योजना का पालन करते हैं, उन्हें ही वे उसका श्रेय देते हैं। अतः जीवन को इस प्रकार गतिशील होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्णभावनामृत में कर्म करे और गुरु के माध्यम से भगवान् को जाने। भगवान् की योजनाएँ उन्हीं की कृपा से समझी जाती हैं और भक्तों की योजनाएँ उनकी ही योजनाएँ हैं। मनुष्य को चाहिए कि ऐसी योजनाओं का अनुसरण करे और जीवन-संघर्ष में विजयी बने।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; **एतत्**—इस प्रकार; **श्रुत्वा**—सुनकर; **वचनम्**—वाणी; **केशवस्य**—कृष्ण की; **कृत-अञ्जलिः**—हाथ जोड़कर; **वेपमानः**—काँपते हुए; **किरीटी**—अर्जुन ने; **नमस्कृत्वा**—नमस्कार करके; **भूयः**—फिर; **एव**—भी; **आह**—बोला; **कृष्णम्**—कृष्ण से; **स-गद्गदम्**—अवरुद्ध स्वर से; **भीत-भीतः**—डरा-डरा सा; **प्रणम्य**—प्रणाम करके।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजा! भगवान् के मुख से इन वचनों को सुनकर काँपते हुए अर्जुन ने हाथ जोड़कर उन्हें बारम्बार नमस्कार किया। फिर उसने भयभीत होकर अवरुद्ध स्वर में कृष्ण से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भगवान् के विश्वरूप के कारण अर्जुन आश्चर्यचकित था, अतः वह कृष्ण को बारम्बार नमस्कार करने लगा और अवरुद्ध कंठ से आश्चर्य से वह कृष्ण की प्रार्थना मित्र के रूप में नहीं, अपितु भक्त के रूप में करने लगा।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

अर्जुनःउवाच—अर्जुन ने कहा; **स्थाने**—यह ठीक है; **हृषीक-ईश**—हे इन्द्रियों के स्वामी; **तव**—आपके; **प्रकीर्त्या**—कीर्ति से; **जगत्**—सारा संसार; **प्रहृष्यति**—हर्षित हो रहा है; **अनुरज्यते**—अनुरक्त हो रहा है; **च**—तथा; **रक्षांसि**—असुरगण; **भीतानि**—डर से; **दिशः**—सारी दिशाओं में; **द्रवन्ति**—भाग रहे हैं; **सर्वे**—सभी; **नमस्यन्ति**—नमस्कार करते हैं; **च**—भी; **सिद्ध-सङ्घाः**—सिद्धपुरुष।

अर्जुन ने कहा—हे हृषीकेश! आपके नाम के श्रवण से संसार हर्षित होता है और सभी लोग आपके प्रति अनुरक्त होते हैं। यद्यपि सिद्धपुरुष आपको नमस्कार करते हैं, किन्तु असुरगण भयभीत हैं और इधर-उधर भाग रहे हैं। यह ठीक ही हुआ है।

तात्पर्य : कृष्ण से कुरुक्षेत्र युद्ध के परिणाम को सुनकर अर्जुन प्रबुद्ध हो गया और भगवान् के परम भक्त तथा मित्र के रूप में उनसे बोला कि कृष्ण जो कुछ करते हैं, वह सब उचित है। अर्जुन ने पुष्टि की कि कृष्ण ही पालक हैं और भक्तों के आराध्य तथा अवांछित तत्त्वों के संहारकर्ता हैं। उनके सारे कार्य सबों के लिए समान रूप से शुभ होते

हैं। यहाँ पर अर्जुन यह समझ पाता है कि जब युद्ध निश्चित रूप से होना था तो अन्तरिक्ष से अनेक देवता, सिद्ध तथा उच्चतर लोकों के बुद्धिमान प्राणी युद्ध को देख रहे थे, क्योंकि युद्ध में कृष्ण उपस्थित थे। जब अर्जुन ने भगवान् का विश्वरूप देखा तो देवताओं को आनन्द हुआ, किन्तु अन्य लोग जो असुर तथा नास्तिक थे, भगवान् की प्रशंसा सुनकर सहन न कर सके। वे भगवान् के विनाशकारी रूप से डर कर भाग गये। भक्तों तथा नास्तिकों के प्रति भगवान् के व्यवहार की अर्जुन द्वारा प्रशंसा की गई है। भक्त प्रत्येक अवस्था में भगवान् का गुणगान करता है, क्योंकि वह जानता है कि वे जो कुछ भी करते हैं, वह सबों के हित में है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

कस्मात्—क्यों; **च**—भी; **ते**—आपको; **न**—नहीं; **नमेरन्**—नमस्कार करें; **महा-आत्मन्**—हे महापुरुष; **गरीयसे**—श्रेष्ठतर लोग; **ब्रह्मणः**—ब्रह्मा की अपेक्षा; **अपि**—यद्यपि; **आदि-कर्त्रे**—परम स्रष्टा को; **अनन्त**—हे अनन्त; **देव-ईश**—हे ईशों के ईश; **जगत्-निवास**—हे जगत के आश्रय; **त्वम्**—आप हैं; **अक्षरम्**—अविनाशी; **सत्-असत्**—कार्य तथा कारण; **तत्-परम्**—दिव्य; **यत्**—क्योंकि।

हे महात्मा! आप ब्रह्मा से भी बढ़कर हैं, आप आदि स्रष्टा हैं। तो फिर वे आपको सादर नमस्कार क्यों न करें? हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास! आप परम स्रोत, अक्षर, कारणों के कारण तथा इस भौतिक जगत् से परे हैं।

तात्पर्य : अर्जुन इस प्रकार नमस्कार करके यह सूचित करता है कि कृष्ण सबों के पूजनीय हैं। वे सर्वव्यापी हैं और प्रत्येक जीव की आत्मा हैं। अर्जुन कृष्ण को *महात्मा* कहकर सम्बोधित करता है, जिसका अर्थ है कि वे उदार तथा अनन्त हैं। *अनन्त* सूचित करता है कि ऐसा कुछ भी नहीं जो भगवान् की शक्ति और प्रभाव से आच्छादित न हो और *देवेश* का अर्थ है कि वे समस्त देवताओं के नियन्ता हैं और उन सबके ऊपर हैं। वे समग्र विश्व के आश्रय हैं। अर्जुन ने भी सोचा कि यह सर्वथा उपयुक्त है कि सारे सिद्ध तथा शक्तिशाली देवता भगवान् को नमस्कार करते हैं, क्योंकि उनसे बढ़कर कोई नहीं है। अर्जुन विशेष रूप से उल्लेख करता है कि कृष्ण ब्रह्मा से भी बढ़कर हैं, क्योंकि ब्रह्मा उन्हीं के द्वारा उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मा का जन्म कृष्ण के पूर्ण विस्तार गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से निकले कमलनाल से हुआ। अतः ब्रह्मा तथा ब्रह्मा से उत्पन्न शिव एवं अन्य सारे देवताओं को चाहिए कि उन्हें नमस्कार करें। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि शिव, ब्रह्मा तथा इन जैसे अन्य देवता भगवान् का आदर करते हैं। *अक्षरम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह जगत् विनाशशील है, किन्तु भगवान् इस जगत् से परे हैं। वे समस्त कारणों के कारण हैं, अतएव वे इस भौतिक प्रकृति के तथा इस दृश्यजगत के समस्त बद्धजीवों से श्रेष्ठ हैं। इसलिए वे परमेश्वर हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

त्वम्—आप; **आदि-देवः**—आदि परमेश्वर; **पुरुषः**—पुरुष; **पुराणः**—प्राचीन, सनातन; **त्वम्**—आप; **अस्य**—इस; **विश्वस्य**—विश्व का; **परम्**—दिव्य; **निधानम्**—आश्रय; **वेत्ता**—जानने वाला; **असि**—हो; **वेद्यम्**—जानने योग्य, ज्ञेय; **च**—तथा; **परम्**—दिव्य; **च**—और; **धाम**—वास, आश्रय; **त्वया**—आपके द्वारा; **ततम्**—व्याप्त; **विश्वम्**—विश्व; **अनन्त-रूप**—हे अनन्त रूप वाले।

आप आदि देव, सनातन पुरुष तथा इस दृश्यजगत के परम आश्रय हैं। आप सब कुछ जानने वाले हैं और आप ही वह सब कुछ हैं, जो जानने योग्य है। आप भौतिक गुणों से परे परम आश्रय हैं। हे अनन्त रूप! यह सम्पूर्ण दृश्यजगत आपसे व्याप्त है।

तात्पर्य : प्रत्येक वस्तु भगवान् पर आश्रित है, अतः वे ही परम आश्रय हैं। *निधानम्* का अर्थ है—ब्रह्म तेज समेत सारी वस्तुएँ भगवान् कृष्ण पर आश्रित हैं। वे इस संसार में घटित होने वाली प्रत्येक घटना को जानने वाले हैं और यदि ज्ञान का कोई अन्त है, तो वे ही समस्त ज्ञान के अन्त हैं। अतः वे ज्ञाता हैं और ज्ञेय (वेद्यं) भी। वे जानने योग्य हैं, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं। वैकुण्ठलोक में कारण स्वरूप होने से वे दिव्य हैं। वे दिव्यलोक में भी प्रधान पुरुष हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

वायुः—वायु; **यमः**—नियन्ता; **अग्निः**—अग्नि; **वरुणः**—जल; **शश-अङ्कः**—चन्द्रमा; **प्रजापतिः**—ब्रह्मा; **त्वम्**—आप; **प्र-पितामहः**—परबाबा; **च**—तथा; **नमः**—मेरा नमस्कार; **नमः**—पुनः नमस्कार; **ते**—आपको; **अस्तु**—हो; **सहस्र-कृत्वः**—हजार बार; **पुनःच**—तथा फिर; **भूयः**—फिर; **अपि**—भी; **नमः**—नमस्कार; **नमःते**—आपको मेरा नमस्कार है।

आप वायु हैं तथा परम नियन्ता भी हैं। आप अग्नि हैं, जल हैं तथा चन्द्रमा हैं। आप आदि जीव ब्रह्मा हैं और आप प्रपितामह हैं। अतः आपको हजार बार नमस्कार है और पुनःपुनः नमस्कार है।

तात्पर्य : भगवान् को वायु कहा गया है, क्योंकि वायु सर्वव्यापी होने के कारण समस्त देवताओं का मुख्य अधिष्ठाता है। अर्जुन कृष्ण को प्रपितामह (परबाबा) कहकर सम्बोधित करता है, क्योंकि वे विश्व के प्रथम जीव ब्रह्मा के पिता हैं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

नमः—नमस्कार; **पुरस्तात्**—सामने से; **अथ**—भी; **पृष्ठतः**—पीछे से; **ते**—आपको; **नमःअस्तु**—मैं नमस्कार करता हूँ; **ते**—आपको; **सर्वतः**—सभी दिशाओं से; **एव**—निस्सन्देह; **सर्व**—क्योंकि आप सब कुछ हैं; **अनन्त-वीर्य**—असीम पौरुष; **अमित-विक्रमः**—तथा असीम बल; **त्वम्**—आप; **सर्वम्**—सब कुछ; **समाप्नोषि**—आच्छादित करते हो; **ततः**—अतएव; **असि**—हो; **सर्वः**—सब कुछ।

आपको आगे, पीछे तथा चारों ओर से नमस्कार है। हे असीम शक्ति! आप अनन्त पराक्रम के स्वामी हैं। आप सर्वव्यापी हैं, अतः आप सब कुछ हैं।

तात्पर्य : कृष्ण के प्रेम से अभिभूत उनका मित्र अर्जुन सभी दिशाओं से उनको नमस्कार कर रहा है। वह स्वीकार करता है कि कृष्ण समस्त बल तथा पराक्रम के स्वामी हैं और युद्धभूमि में एकत्र समस्त योद्धाओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। *विष्णुपुराण* में (१.९.६९) कहा गया है—

योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः।
स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्॥

"आपके समक्ष जो भी आता है, चाहे वह देवता ही क्यों न हो, हे भगवान्! वह आपके द्वारा ही उत्पन्न है।"

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

सखा—मित्र; **इति**—इस प्रकार; **मत्वा**—मानकर; **प्रसभम्**—हठपूर्वक; **यत्**—जो भी; **उक्तम्**—कहा गया; **हे कृष्ण**—हे कृष्ण; **हे यादव**—हे यादव; **हे सखा**—हे मित्र; **इति**—इस प्रकार; **अजानता**—बिना जाने; **महिमानम्**—महिमा को; **तव**—आपकी; **इदम्**—यह; **मया**—मेरे द्वारा; **प्रमादात्**—मूर्खतावश; **प्रणयेन**—प्यार वश; **वा अपि**—या तो; **यत्**—जो; **च**—भी; **अवहास-अर्थम्**—हँसी के लिए; **असत्-कृतः**—अनादर किया गया; **असि**—हो; **विहार**—आराम में; **शय्या**—लेटे रहने पर; **आसन**—बैठे रहने पर; **भोजनेषु**—या भोजन करते समय; **एकः**—अकेले; **अथवा**—या; **अपि**—भी; **अच्युत**—हे अच्युत; **तत्-समक्षम्**—साथियों के बीच; **तत्**—उन सभी; **क्षामये**—क्षमाप्रार्थी हूँ; **त्वाम्**—आपसे; **अहम्**—मैं; **अप्रमेयम्**—अचिन्त्य।

आपको अपना मित्र मानते हुए मैंने हठपूर्वक आपको हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा जैसे सम्बोधनों से पुकारा है, क्योंकि मैं आपकी महिमा को नहीं जानता था। मैंने मूर्खतावश या प्रेमवश जो कुछ भी किया है, कृपया उसके लिए मुझे क्षमा कर दें। यही नहीं, मैंने कई बार आराम करते समय, एकसाथ लेटे हुए या साथ-साथ खाते या बैठे हुए, कभी अकेले तो कभी अनेक मित्रों के समक्ष आपका अनादर किया है। हे अच्युत! मेरे इन समस्त अपराधों को क्षमा करें।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन के समक्ष कृष्ण अपने विराट रूप में हैं, किन्तु उसे कृष्ण के साथ अपना मैत्रीभाव स्मरण है। इसीलिए वह मित्रता के कारण होने वाले अनेक अपराधों को क्षमा करने के लिए प्रार्थना कर रहा है। वह स्वीकार करता है कि पहले उसे ज्ञात न था कि कृष्ण ऐसा विराट रूप धारण कर सकते हैं, यद्यपि मित्र के रूप में कृष्ण ने उसे यह समझाया था। अर्जुन को यह भी पता नहीं था कि उसने कितनी बार 'हे मेरे मित्र' 'हे कृष्ण' 'हे यादव' जैसे सम्बोधनों के द्वारा उनका अनादर किया है और उनकी महिमा स्वीकार नहीं की। किन्तु कृष्ण इतने कृपालु हैं कि इतने ऐश्वर्यमण्डित होने पर भी अर्जुन से मित्र की भूमिका निभाते रहे। ऐसा होता है भक्त तथा भगवान् के बीच दिव्य प्रेम का आदान-प्रदान। जीव तथा कृष्ण का सम्बन्ध शाश्वत रूप से स्थिर है, इसे भुलाया नहीं जा सकता, जैसा कि हम अर्जुन के आचरण में देखते हैं। यद्यपि अर्जुन विराट रूप का ऐश्वर्य देख चुका है, किन्तु वह कृष्ण के साथ अपनी मैत्री नहीं भूल सकता।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

पिता—पिता; **असि**—हो; **लोकस्य**—पूरे जगत के; **चर**—सचल; **अचरस्य**—तथा अचलों के; **त्वम्**—आप हैं; **अस्य**—इसके; **पूज्यः**—पूज्य; **च**—भी; **गुरुः**—गुरु; **गरीयान्**—यशस्वी, महिमामय; **न**—कभी नहीं; **त्वत्-समः**—आपके तुल्य; **अस्ति**—है; **अभ्यधिकः**—बढ़ कर; **कुतः**—किस तरह सम्भव है; **अन्यः**—दूसरा; **लोक-त्रये**—तीनों लोकों में; **अपि**—भी; **अप्रतिम-प्रभाव**—हे अचिन्त्य शक्ति वाले।

आप इस चर तथा अचर सम्पूर्ण दृश्यजगत के जनक हैं। आप परम पूज्य महान आध्यात्मिक गुरु हैं। न तो कोई आपके तुल्य है, न ही कोई आपके समान हो सकता है। हे अतुल शक्ति वाले प्रभु! भला तीनों लोकों में आपसे बढ़कर कोई कैसे हो सकता है?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उसी प्रकार पूज्य हैं, जिस प्रकार पुत्र द्वारा पिता पूज्य होता है। वे गुरु हैं क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं ने ब्रह्मा को वेदों का उपदेश दिया और इस समय वे अर्जुन को भी *भगवद्गीता* का उपदेश दे रहे हैं, अतः वे आदि गुरु हैं और इस समय

किसी भी प्रामाणिक गुरु को कृष्ण से प्रारम्भ होने वाली गुरु-परम्परा का वंशज होना चाहिए। कृष्ण का प्रतिनिधि हुए बिना कोई न तो शिक्षक और न आध्यात्मिक विषयों का गुरु हो सकता है।

भगवान् को सभी प्रकार से नमस्कार किया जा रहा है। उनकी महानता अपरिमेय है। कोई भी भगवान् कृष्ण से बढ़कर नहीं, क्योंकि इस लोक में या वैकुण्ठलोक में कृष्ण के समान या उनसे बड़ा कोई नहीं है। सभी लोग उनसे निम्न हैं। कोई उनको पार नहीं कर सकता। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (६.८) कहा गया है कि—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

भगवान् कृष्ण के भी सामान्य व्यक्ति की तरह इन्द्रियाँ तथा शरीर हैं, किन्तु उनके लिए अपनी इन्द्रियों, अपने शरीर, अपने मन तथा स्वयं में कोई अन्तर नहीं रहता। जो लोग मूर्ख हैं, वे कहते हैं कि कृष्ण अपने आत्मा, मन, हृदय तथा अन्य प्रत्येक वस्तु से भिन्न हैं। कृष्ण तो परम हैं, अतः उनके कार्य तथा शक्तियाँ भी सर्वश्रेष्ठ हैं। यह भी कहा जाता है कि यद्यपि हमारे समान उनकी इन्द्रियाँ नहीं हैं, तो भी वे सारे ऐन्द्रिय कार्य करते हैं। अतः उनकी इन्द्रियाँ न तो सीमित हैं, न ही अपूर्ण हैं। न तो कोई उनसे बढ़ कर है, न उनके तुल्य कोई है। सभी लोग उनसे घट कर हैं।

परम पुरुष का ज्ञान, शक्ति तथा कर्म सभी कुछ दिव्य है। *भगवद्गीता* में (४.९) कहा गया है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

जो कोई कृष्ण के दिव्य शरीर, कर्म तथा पूर्णता को जान लेता है, वह इस शरीर को छोड़ने के बाद उनके धाम को जाता है और फिर इस दुखमय संसार में वापस नहीं आता। अतः मनुष्य को जान लेना चाहिए कि कृष्ण के कार्य अन्यों से भिन्न होते हैं। सर्वश्रेष्ठ मार्ग तो यह है कि कृष्ण के नियमों का पालन किया जाय, इससे मनुष्य सिद्ध बनेगा। यह भी कहा गया है कि कोई ऐसा नहीं जो कृष्ण का गुरु बन सके, सभी तो उनके दास हैं। *चैतन्य चरितामृत* (आदि ५.१४२) से इसकी पुष्टि होती है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—केवल कृष्ण ईश्वर हैं, शेष सभी उनके दास हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनके आदेश का पालन करता है। कोई ऐसा नहीं जो उनके आदेश का उल्लंघन कर सके। प्रत्येक व्यक्ति उनकी अध्यक्षता में होने के कारण उनके निर्देश के अनुसार कार्य करता है। जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि वे समस्त कारणों के कारण हैं।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

तस्मात्—अतः; **प्रणम्य**—प्रणाम करके; **प्रणिधाय**—प्रणत करके; **कायम्**—शरीर को; **प्रसादये**—कृपा की याचना करता हूँ; **त्वाम्**—आपसे; **अहम्**—मैं; **ईशम्**—भगवान् से; **ईड्यम्**—पूज्य; **पिता इव**—पिता

तुल्य; **पुत्रस्य**—पुत्र का; **सखा इव**—मित्रवत्; **सख्युः**—मित्र का; **प्रियः**—प्रेमी; **प्रियायाः**—प्रिया का; **अर्हसि**—आपको चाहिए; **देव**—मेरे प्रभु; **सोढुम्**—सहन करना।

आप प्रत्येक जीव द्वारा पूजनीय भगवान् हैं। अतः मैं गीरकर सादर प्रणाम करता हूँ और आपकी कृपा की याचना करता हूँ। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की ढिठाई सहन करता है, या मित्र अपने मित्र की घृष्टता सह लेता है, या प्रिय अपनी प्रिया का अपराध सहन कर लेता है, उसी प्रकार आप कृपा करके मेरी त्रुटियों को सहन कर लें।

तात्पर्य : कृष्ण के भक्त उनके साथ विविध प्रकार के सम्बन्ध रखते हैं—कोई कृष्ण को पुत्रवत्, कोई पति रूप में, कोई मित्र रूप में या कोई स्वामी के रूप में मान सकता है। कृष्ण और अर्जुन का सम्बन्ध मित्रता का है। जिस प्रकार पिता, पति या स्वामी सब अपराध सहन कर लेते हैं उसी प्रकार कृष्ण सहन करते हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

अदृष्ट-पूर्वम्—पहले कभी न देखा गया; **हृषितः**—हर्षित; **अस्मि**—हूँ; **दृष्ट्वा**—देखकर; **भयेन**—भय के कारण; **च**—भी; **प्रव्यथितम्**—विचलित, भयभीत; **मनः**—मन; **मे**—मेरा; **तत्**—वह; **एव**—निश्चय ही; **मे**—मुझको; **दर्शय**—दिखलाइये; **देव**—हे प्रभु; **रूपम्**—रूप; **प्रसीद**—प्रसन्न होइये; **देव-ईश**—ईशों के ईश; **जगत्-निवास**—हे जगत के आश्रय।

पहले कभी न देखे गये आपके इस विराट रूप का दर्शन करके मैं पुलकित हो रहा हूँ, किन्तु साथ ही मेरा मन भयभीत हो रहा है। अतः आप मुझ पर कृपा करें और हे देवेश, हे जगन्निवास! अपना पुरुषोत्तम भगवत् स्वरूप पुनः दिखाएँ।

तात्पर्य : अर्जुन को कृष्ण पर विश्वास है, क्योंकि वह उनका प्रिय मित्र है और मित्र रूप में वह अपने मित्र के ऐश्वर्य को देखकर अत्यन्त पुलकित है। अर्जुन यह देख कर अत्यन्त प्रसन्न है कि उसके मित्र कृष्ण भगवान् हैं और वे ऐसा विराट रूप प्रदर्शित कर सकते हैं। किन्तु साथ ही वह इस विराट रूप को देखकर भयभीत है कि उसने अनन्य मैत्रीभाव के कारण कृष्ण के प्रति अनेक अपराध किये हैं। इस प्रकार भयवश उसका मन विचलित है, यद्यपि भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। अतएव अर्जुन कृष्ण से प्रार्थना करता है कि वे अपना नारायण रूप दिखाएँ, क्योंकि वे कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। यह विराट रूप भौतिक जगत के ही तुल्य भौतिक एवं नश्वर है। किन्तु वैकुण्ठलोक में नारायण के रूप में उनका शाश्वत चतुर्भुज रूप रहता है। वैकुण्ठलोक में असंख्य लोक हैं और कृष्ण इन सबमें अपने भिन्न नामों से अंश रूप में विद्यमान हैं। इस प्रकार अर्जुन वैकुण्ठलोक के उनके किसी एक रूप को देखना चाहता था। निस्सन्देह प्रत्येक

वैकुण्ठलोक में नारायण का स्वरूप चतुर्भुजी है, किन्तु इन चारों हाथों में वे विभिन्न क्रम में शंख, गदा, कमल तथा चक्र के चिन्ह धारण किये रहते हैं। विभिन्न हाथों में इन चारों चिन्हों के अनुसार नारायण भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। ये सारे रूप कृष्ण के ही हैं, इसलिए अर्जुन कृष्ण के चतुर्भुज रूप का दर्शन करना चाहता है।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

किरीटिनम्—मुकुट धारण किये; **गदिनम्**—गदाधारी; **चक्रहस्तम्**—चक्रधारण किये; **इच्छामि**—इच्छुक हूँ; **त्वाम्**—आपको; **द्रष्टुम्**—देखना; **अहम्**—मैं; **तथा एव**—उसी स्थिति में; **तेन-एव**—उसी; **रूपेण**—रूप में; **चतुःभुजेन**—चार हाथों वाले; **सहस्र-बाहो**—हे हजार भुजाओं वाले; **भव**—हो जाइये; **विश्व-मूर्ते**—हे विराट रूप।

हे विराट रूप! हे सहस्रभुज भगवान्! मैं आपके मुकुटधारी चतुर्भुज रूप का दर्शन करना चाहता हूँ, जिसमें आप अपने चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुए हों। मैं उसी रूप को देखने की इच्छा करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* में (५.३९) कहा गया है—*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*—भगवान् सैकड़ों हजारों रूपों में नित्य विद्यमान रहते हैं जिनमें से राम, नृसिंह, नारायण उनके मुख्य रूप हैं। रूप तो असंख्य हैं, किन्तु अर्जुन को ज्ञात था कि कृष्ण ही आदि भगवान् हैं, जिन्होंने यह क्षणिक विश्वरूप धारण किया है। अब वह प्रार्थना कर रहा है कि भगवान् अपने नारायण नित्यरूप का दर्शन दें। इस श्लोक से *श्रीमद्भागवत* के कथन की निस्सन्देह पुष्टि होती है कि कृष्ण आदि भगवान् हैं और अन्य सारे रूप उन्हीं से प्रकट होते हैं। वे अपने अंशों से भिन्न नहीं हैं और वे अपने असंख्य रूपों में भी ईश्वर ही बने रहते हैं। इन सारे रूपों में वे तरुण दिखते हैं। यही भगवान् का स्थायी लक्षण है। कृष्ण को जानने वाला इस भौतिक संसार के समस्त कल्मष से मुक्त हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **मया**—मेरे द्वारा; **प्रसन्नेन**—प्रसन्न; **तव**—तुमको; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **इदम्**—इस; **रूपम्**—रूप को; **परम्**—दिव्य; **दर्शितम्**—दिखाया गया; **आत्म-योगात्**—अपनी अन्तरंगाशक्ति से; **तेजःमयम्**—तेज से पूर्ण; **विश्वम्**—समग्र ब्रह्माण्ड को; **अनन्तम्**—असीम;

आद्यम्–आदि; **यत्**–जो; **मे**–मेरा; **त्वत् अन्येन**–तुम्हारे अतिरिक्त अन्य के द्वारा; **न दृष्ट-पूर्वम्**–किसी ने पहले नहीं देखा।

भगवान् ने कहा–हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी अन्तरंगा शक्ति के बल पर तुम्हें इस संसार में अपने इस परम विश्वरूप का दर्शन कराया है। इसके पूर्व अन्य किसी ने इस असीम तथा तेजोमय आदि-रूप को कभी नहीं देखा था।

तात्पर्य : अर्जुन भगवान् के विश्वरूप को देखना चाहता था, अतः भगवान् कृष्ण ने अपने भक्त अर्जुन पर अनुकम्पा करते हुए उसे अपने तेजोमय तथा ऐश्वर्यमय विश्वरूप का दर्शन कराया। यह रूप सूर्य की भाँति चमक रहा था और इसके मुख निरन्तर परिवर्तित हो रहे थे। कृष्ण ने यह रूप अर्जुन की इच्छा को शान्त करने के लिए ही दिखलाया। यह रूप कृष्ण की उस अन्तरंगाशक्ति द्वारा प्रकट हुआ जो मानव कल्पना से परे है। अर्जुन से पूर्व भगवान् के इस विश्वरूप का किसी ने दर्शन नहीं किया था, किन्तु जब अर्जुन को यह रूप दिखाया गया तो स्वर्गलोक तथा अन्य लोकों के भक्त भी इसे देख सके। उन्होंने इस रूप को पहले नहीं देखा था, केवल अर्जुन के कारण वे इसे देख पा रहे थे। दूसरे शब्दों में, कृष्ण की कृपा से भगवान् के सारे शिष्य भक्त उस विश्वरूप का दर्शन कर सके, जिसे अर्जुन देख रहा था। किसी ने टीका की है कि जब कृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास गये थे, तो उसे भी इसी रूप का दर्शन कराया गया था। दुर्भाग्यवश दुर्योधन ने शान्ति प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, किन्तु कृष्ण ने उस समय अपने कुछ रूप दिखाए थे। किन्तु वे रूप अर्जुन को दिखाये गये इस रूप से सर्वथा भिन्न थे। यह स्पष्ट कहा गया है कि इस रूप को पहले किसी ने भी नहीं देखा था।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

न–कभी नहीं; **वेद-यज्ञ**–यज्ञ द्वारा; **अध्ययनैः**–या वेदों के अध्ययन से; **न**–कभी नहीं; **दानैः**–दान के द्वारा; **न**–कभी नहीं; **च**–भी; **क्रियाभिः**–पुण्य कर्मों से; **न**–कभी नहीं; **तपोभिः**–तपस्या के द्वारा; **उग्रैः**–कठोर; **एवम्-रूपः**–इस रूप में; **शक्यः**–समर्थ; **अहम्**–मैं; **नृ-लोके**–इस भौतिक जगत में; **द्रष्टुम्**–देखे जाने में; **त्वत्**–तुम्हारे अतिरिक्त; **अन्येन**–अन्य के द्वारा; **कुरु-प्रवीर**–कुरु योद्धाओं में श्रेष्ठ।

हे कुरुश्रेष्ठ! तुमसे पूर्व मेरे इस विश्वरूप को किसी ने नहीं देखा, क्योंकि मैं न तो वेदाध्ययन के द्वारा, न यज्ञ, दान, पुण्य या कठिन तपस्या के द्वारा इस रूप में, इस संसार में देखा जा सकता हूँ।

तात्पर्य : इस प्रसंग में दिव्य दृष्टि को भलीभाँति समझ लेना चाहिए। तो यह दिव्य दृष्टि किसके पास हो सकती है? दिव्य का अर्थ है दैवी। जब तक कोई देवता के रूप में दिव्यता प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। और देवता

कौन है? वैदिक शास्त्रों का कथन है कि जो भगवान् विष्णु के भक्त हैं, वे देवता हैं (*विष्णुभक्ताः स्मृता देवाः*)। जो नास्तिक हैं, अर्थात् जो विष्णु में विश्वास नहीं करते या जो कृष्ण के निर्विशेष अंश को परमेश्वर मानते हैं, उन्हें यह दिव्य दृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसा सम्भव नहीं है कि कृष्ण का विरोध करके कोई दिव्य दृष्टि भी प्राप्त कर सके। दिव्य बने बिना दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में, जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है, वे भी अर्जुन की ही तरह विश्वरूप देख सकते हैं।

भगवद्गीता में विश्वरूप का विवरण है। यद्यपि अर्जुन के पूर्व यह विवरण अज्ञात था, किन्तु इस घटना के बाद अब विश्वरूप का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। जो लोग सचमुच ही दिव्य हैं, वे भगवान् के विश्वरूप को देख सकते हैं। किन्तु कृष्ण का शुद्धभक्त बने बिना कोई दिव्य नहीं बन सकता। किन्तु जो भक्त सचमुच दिव्य प्रकृति के हैं, और जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है, वे भगवान् के विश्वरूप का दर्शन करने के लिए उत्सुक नहीं रहते। जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है, अर्जुन ने कृष्ण के चतुर्भुजी विष्णु रूप को देखना चाहा, क्योंकि विश्वरूप को देखकर वह सचमुच भयभीत हो उठा था।

इस श्लोक में कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, यथा *वेदयज्ञाध्ययनैः* जो वेदों तथा यज्ञानुष्ठानों से सम्बन्धित विषयों के अध्ययन का निर्देश करता है। वेदों का अर्थ है, समस्त प्रकार का वैदिक साहित्य यथा चारों वेद (ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व) एवं अठारहों पुराण, सारे उपनिषद् तथा वेदान्त सूत्र। मनुष्य इन सबका अध्ययन चाहे घर में करे या अन्यत्र। इसी प्रकार यज्ञ विधि के अध्ययन करने के अनेक सूत्र हैं—*कल्पसूत्र* तथा *मीमांसा-सूत्र। दानैः* सुपात्र को दान देने के अर्थ में आया है; जैसे वे लोग जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, यथा ब्राह्मण तथा वैष्णव। इसी प्रकार *क्रियाभिः* शब्द अग्निहोत्र के लिए है और विभिन्न वर्णों के कर्मों का सूचक है। शारीरिक कष्टों को स्वेच्छा से अंगीकर करना तपस्या है। इस तरह मनुष्य भले ही इन सारे कार्यों—तपस्या, दान, वेदाध्ययन आदि को करे, किन्तु जब तक वह अर्जुन की भाँति भक्त नहीं होता, तब तक वह विश्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता। निर्विशेषवादी भी कल्पना करते रहते हैं कि वे भगवान् के विश्वरूप का दर्शन कर रहे हैं, किन्तु *भगवद्गीता* से हम जानते हैं कि निर्विशेषवादी भक्त नहीं हैं। फलतः वे भगवान् के विश्वरूप को नहीं देख पाते।

ऐसे अनेक पुरुष हैं जो अवतारों की सृष्टि करते हैं। वे झूठे ही सामान्य व्यक्ति को अवतार मानते हैं, किन्तु यह मूर्खता है। हमें तो *भगवद्गीता* का अनुसरण करना चाहिए, अन्यथा पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है। यद्यपि *भगवद्गीता* को भगवत्तत्त्व का प्राथमिक अध्ययन माना जाता है, तो भी यह इतना पूर्ण है कि कौन क्या है, इसका अन्तर बताया जा सकता है। छद्म अवतार के समर्थक यह कह सकते हैं कि उन्होंने भी ईश्वर के दिव्य अवतार विश्वरूप को देखा है, किन्तु यह स्वीकार्य नहीं, क्योंकि यहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि कृष्ण का भक्त बने बिना ईश्वर के विश्वरूप को नहीं देखा जा सकता। अतः पहले कृष्ण का शुद्धभक्त बनना होता है, तभी कोई दावा कर सकता है कि वह विश्वरूप का दर्शन करा सकता है, जिसे उसने देखा है। कृष्ण का भक्त कभी भी छद्म अवतारों को या इनके अनुयायियों को मान्यता नहीं देता।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

मा—न हो; **ते**—तुम्हें; **व्यथा**—पीड़ा, कष्ट; **मा**—न हो; **च**—भी; **विमूढ-भावः**—मोह; **दृष्ट्वा**—देखकर; **रूपम्**—रूप को; **घोरम्**—भयानक; **ईदृक्**—इस प्रकार का; **मम**—मेरे; **इदम्**—इस; **व्यपेत-भीः**—सभी प्रकार के भय से मुक्त; **प्रीत-मनाः**—प्रसन्न चित्त; **पुनः**—फिर; **त्वम्**—तुम; **तत्**—उस; **एव**—इस प्रकार; **मे**—मेरे; **रूपम्**—रूप को; **इदम्**—इस; **प्रपश्य**—देखो।

तुम मेरे इस भयानक रूप को देखकर अत्यन्त विचलित एवं मोहित हो गये हो। अब इसे समाप्त करता हूँ। हे मेरे भक्त! तुम समस्त चिन्ताओं से पुनः मुक्त हो जाओ। तुम शान्त चित्त से अब अपना इच्छित रूप देख सकते हो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में अर्जुन अपने पूज्य पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण के वध के विषय में चिन्तित था। किन्तु कृष्ण ने कहा कि उसे अपने पितामह का वध करने से डरना नहीं चाहिए। जब कौरवों की सभा में धृतराष्ट्र के पुत्र द्रौपदी को विवस्त्र करना चाह रहे थे, तो भीष्म तथा द्रोण मौन थे, अतः कर्तव्यविमुख होने के कारण इनका वध होना चाहिए। कृष्ण ने अर्जुन को अपने विश्वरूप का दर्शन यह दिखाने के लिए कराया कि ये लोग अपने कुकृत्यों के कारण पहले ही मारे जा चुके हैं। यह दृश्य अर्जुन को इसलिए दिखलाया गया, क्योंकि भक्त शान्त होते हैं और ऐसे जघन्य कर्म नहीं कर सकते। विश्वरूप प्रकट करने का अभिप्राय स्पष्ट हो चुका था। अब अर्जुन कृष्ण के चतुर्भुज रूप को देखना चाह रहा था। अतः उन्होंने यह रूप दिखाया। भक्त कभी भी विश्वरूप देखने में रुचि नहीं लेता क्योंकि इससे प्रेमानुभूति का आदान-प्रदान नहीं हो सकता। भक्त या तो अपना पूजाभाव अर्पित करना चाहता है या दो भुजा वाले कृष्ण का दर्शन करना चाहता है जिससे वह भगवान् के साथ प्रेमाभक्ति का आदान-प्रदान कर सके।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; **इति**—इस प्रकार; **अर्जुनम्**—अर्जुन को; **वासुदेवः**—कृष्ण ने; **तथा**—उस प्रकार से; **उक्त्वा**—कहकर; **स्वकम्**—अपना, स्वीय; **रूपम्**—रूप को; **दर्शयाम् आस**—दिखलाया; **भूयः**—फिर; **आश्वासयाम् आस**—धीरज धराया; **च**—भी; **भीतम्**—भयभीत; **एनम्**—उसको; **भूत्वा**—होकर; **पुनः**—फिर; **सौम्य वपुः**—सुन्दर रूप; **महा-आत्मा**—महापुरुष।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—अर्जुन से इस प्रकार कहने के बाद भगवान् कृष्ण ने

अपना असली चतुर्भुज रूप प्रकट किया और अन्त में दो भुजाओं वाला अपना रूप प्रदर्शित करके भयभीत अर्जुन को धैर्य बँधाया।

तात्पर्य : जब कृष्ण वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए तो पहले वे चतुर्भुज नारायण रूप में ही प्रकट हुए, किन्तु जब उनके माता-पिता ने प्रार्थना की तो उन्होंने सामान्य बालक का रूप धारण कर लिया। उसी प्रकार कृष्ण को ज्ञात था कि अर्जुन उनके चतुर्भुज रूप को देखने का इच्छुक नहीं है, किन्तु चूँकि अर्जुन ने उनको इस रूप में देखने की प्रार्थना की थी, अतः कृष्ण ने पहले अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया और फिर वे अपने दो भुजाओं वाले रूप में प्रकट हुए। *सौम्यवपुः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है अत्यन्त सुन्दर रूप। जब कृष्ण विद्यमान थे तो सारे लोग उनके रूप पर ही मोहित हो जाते थे और चूँकि कृष्ण इस विश्व के निर्देशक हैं, अतः उन्होंने अपने भक्त अर्जुन का भय दूर किया और पुनः उसे अपना सुन्दर (सौम्य) रूप दिखलाया। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन*—जिस व्यक्ति की आँखों में प्रेमरूपी अंजन लगा है, वही कृष्ण के सौम्यरूप का दर्शन कर सकता है।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

अर्जुनःउवाच—अर्जुन ने कहा; **दृष्ट्वा**—देखकर; **इदम्**—इस; **मानुषम्**—मानवी; **रूपम्**—रूप को; **तव**—आपके; **सौम्यम्**—अत्यन्त सुन्दर; **जनार्दन**—हे शत्रुओं को दण्डित करने वाले; **इदानीम्**—अब; **अस्मि**—हूँ; **संवृत्तः**—स्थिर; **स-चेताः**—अपनी चेतना में; **प्रकृतिम्**—अपनी प्रकृति को; **गतः**—पुनः प्राप्त हूँ।

जब अर्जुन ने कृष्ण को उनके आदि रूप में देखा तो कहा—हे जनार्दन! आपके इस अतीव सुन्दर मानवी रूप को देखकर मैं अब स्थिरचित्त हूँ और मैंने अपनी प्राकृत अवस्था प्राप्त कर ली है।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त *मानुषं रूपम्* शब्द स्पष्ट सूचित करते हैं कि भगवान् मूलतः दो भुजाओं वाले हैं। जो लोग कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानकर उनका उपहास करते हैं, उनको यहाँ पर भगवान् की दिव्य प्रकृति से अनभिज्ञ बताया गया है। यदि कृष्ण सामान्य मनुष्य होते तो उनके लिए पहले विश्वरूप और फिर चतुर्भुज नारायण रूप दिखा पाना कैसे सम्भव हो पाता? अतः *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट उल्लेख है कि जो कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानता है और पाठक को यह कहकर भ्रान्त करता है कि कृष्ण के भीतर का निर्विशेष ब्रह्म बोल रहा है, वह सबसे बड़ा अन्याय करता है। कृष्ण ने सचमुच अपने विश्वरूप को तथा चतुर्भुज विष्णुरूप को प्रदर्शित किया। तो फिर वे किस तरह सामान्य पुरुष हो सकते हैं? शुद्ध भक्त कभी भी ऐसी गुमराह करने वाली टीकाओं से विचलित नहीं होता, क्योंकि वह वास्तविकता से अवगत रहता है। *भगवद्गीता* के मूल श्लोक सूर्य की भाँति स्पष्ट हैं, मूर्ख टीकाकारों को उन पर प्रकाश डालने की कोई आवश्यकता नहीं है।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान् उवाच–श्रीभगवान् ने कहा; **सु-दुर्दर्शम्**–देख पाने में अत्यन्त कठिन; **इदम्**–इस; **रूपम्**–रूप को; **दृष्टवान् असि**–जैसा तुमने देखा; **यत्**–जो; **मम**–मेरे; **देवाः**–देवता; **अपि**–भी; **अस्य**–इस; **रूपस्य**–रूप का; **नित्यम्**–शाश्वत; **दर्शन-काङ्क्षिणः**–दर्शनाभिलाषी।

श्रीभगवान् ने कहा–हे अर्जुन! तुम मेरे जिस रूप को इस समय देख रहे हो, उसे देख पाना अत्यन्त दुष्कर है। यहाँ तक कि देवता भी इस अत्यन्त प्रिय रूप को देखने की ताक में रहते हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय के ४८वें श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाना बन्द किया और अर्जुन को बताया कि अनेक तप, यज्ञ आदि करने पर भी इस रूप को देख पाना असम्भव है। अब *सुदुर्दर्शम्* शब्द का प्रयोग किया जा रहा है जो सूचित करता है कि कृष्ण का द्विभुज रूप और अधिक गुह्य है। कोई तपस्या, वेदाध्ययन तथा दार्शनिक चिंतन आदि विभिन्न क्रियाओं के साथ थोड़ा सा भक्ति-तत्त्व मिलाकर कृष्ण के विश्वरूप का दर्शन संभवतः कर सकता है, लेकिन 'भक्ति-तत्त्व' के बिना यह संभव नहीं है, इसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। फिर भी विश्वरूप से आगे कृष्ण का द्विभुज रूप है, जिसे ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवताओं द्वारा भी देख पाना और भी कठिन है। वे उनका दर्शन करना चाहते हैं और *श्रीमद्भागवत* में प्रमाण है कि जब भगवान् अपनी माता देवकी के गर्भ में थे, तो स्वर्ग के सारे देवता कृष्ण के चमत्कार को देखने के लिए आये और उन्होंने उत्तम स्तुतियाँ कीं, यद्यपि उस समय वे दृष्टिगोचर नहीं थे। वे उनके दर्शन की प्रतीक्षा करते रहे। मूर्ख व्यक्ति उन्हें सामान्य जन समझकर भले ही उनका उपहास कर ले और उनका सम्मान न करके उनके भीतर स्थित किसी निराकार 'कुछ' का सम्मान करे, किन्तु यह सब मूर्खतापूर्ण व्यवहार है। कृष्ण के द्विभुज रूप का दर्शन तो ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता तक करना चाहते हैं।

भगवद्गीता (९.११) में इसकी पुष्टि हुई है–*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*–जो लोग उनका उपहास करते हैं, वे उन्हें दृश्य नहीं होते। जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में तथा स्वयं कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, कृष्ण का शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है। उनका शरीर कभी भी भौतिक शरीर जैसा नहीं होता। किन्तु जो लोग *भगवद्गीता* या इसी प्रकार के वैदिक शास्त्रों को पढ़कर कृष्ण का अध्ययन करते हैं, उनके लिए कृष्ण समस्या बने रहते हैं। जो भौतिक विधि का प्रयोग करता है उसके लिए कृष्ण एक महान ऐतिहासिक पुरुष तथा अत्यन्त विद्वान चिन्तक हैं, यद्यपि वे सामान्य व्यक्ति हैं और इतने शक्तिमान होते हुए भी उन्हें भौतिक शरीर धारण करना पड़ा। अन्ततोगत्वा वे परम सत्य को निर्विशेष मानते हैं, अतः वे सोचते हैं कि भगवान् ने अपने निराकार रूप से ही साकार रूप धारण किया। परमेश्वर के विषय में ऐसा अनुमान नितान्त भौतिकतावादी है। दूसरा अनुमान भी काल्पनिक है। जो लोग ज्ञान की

खोज में हैं, वे भी कृष्ण का चिन्तन करते हैं और उन्हें उनके विश्वरूप से कम महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस प्रकार कुछ लोग सोचते हैं कि अर्जुन के समक्ष कृष्ण का जो रूप प्रकट हुआ था, वह उनके साकार रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार कृष्ण का साकार रूप काल्पनिक है। उनका विश्वास है कि परम सत्य व्यक्ति नहीं है। किन्तु *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में दिव्य विधि का वर्णन है और वह कृष्ण के विषय में प्रामाणिक व्यक्तियों से श्रवण करने की है। यही वास्तविक वैदिक विधि है और जो लोग सचमुच वैदिक परम्परा में हैं, वे किसी अधिकारी से ही कृष्ण के विषय में श्रवण करते हैं और बारम्बार श्रवण करने से कृष्ण उनके प्रिय हो जाते हैं। जैसा कि हम कई बार बता चुके हैं कि कृष्ण अपनी योगमाया शक्ति से आच्छादित हैं। उन्हें हर कोई नहीं देख सकता। वही उन्हें देख पाता है, जिसके समक्ष वे प्रकट होते हैं। इसकी पुष्टि वेदों में हुई है, किन्तु जो शरणागत हो चुका है, वह परम सत्य को सचमुच समझ सकता है। निरन्तर कृष्णभावनामृत से तथा कृष्ण की भक्ति से आध्यात्मिक आँखें खुल जाती हैं और वह कृष्ण को प्रकट रूप में देख सकता है। ऐसा प्राकट्य देवताओं तक के लिए दुर्लभ है, अतः वे भी उन्हें नहीं समझ पाते और उनके द्विभुज रूप के दर्शन की ताक में रहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि यद्यपि कृष्ण के विश्वरूप का दर्शन कर पाना अत्यन्त दुर्लभ है और हर कोई ऐसा नहीं कर सकता, किन्तु उनके श्यामसुन्दर रूप को समझ पाना तो और भी कठिन है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

न—कभी नहीं; **अहम्**—मैं; **वेदैः**—वेदाध्ययन से; **न**—कभी नहीं; **तपसा**—कठिन तपस्या द्वारा; **न**—कभी नहीं; **दानेन**—दान से; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **इज्यया**—पूजा से; **शक्यः**—सम्भव है; **एवम्-विधः**—इस प्रकार से; **द्रष्टुम्**—देख पाना; **दृष्टवान्**—देख रहे; **असि**—तुम हो; **माम्**—मुझको; **यथा**—जिस प्रकार।

तुम अपने दिव्य नेत्रों से जिस रूप का दर्शन कर रहे हो, उसे न तो वेदाध्ययन से, न कठिन तपस्या से, न दान से, न पूजा से ही जाना जा सकता है। कोई इन साधनों के द्वारा मुझे मेरे रूप में नहीं देख सकता।

तात्पर्य : कृष्ण पहले अपनी माता देवकी तथा पिता वसुदेव के समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए थे और तब उन्होंने अपना द्विभुज रूप धारण किया था। जो लोग नास्तिक हैं, या भक्तिविहीन हैं, उनके लिए इस रहस्य को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। जिन विद्वानों ने केवल व्याकरण विधि से या कोरी शैक्षिक योग्यताओं के आधार पर वैदिक साहित्य का अध्ययन किया है, वे कृष्ण को नहीं समझ सकते। न ही वे लोग कृष्ण को समझ सकेंगे, जो औपचारिक पूजा करने के लिए मन्दिर जाते हैं। वे भले ही वहाँ जाते रहें, वे कृष्ण के असली रूप को नहीं समझ सकेंगे। कृष्ण को तो केवल भक्तिमार्ग से समझा जा सकता है, जैसा कि कृष्ण ने स्वयं अगले श्लोक में बताया है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥५४॥

भक्त्या—भक्ति से; **तु**—लेकिन; **अनन्यया**—सकामकर्म तथा ज्ञान से रहित; **शक्यः**—सम्भव; **अहम्**—मैं; **एवम्-विधः**—इस प्रकार; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **ज्ञातुम्**—जानने; **द्रष्टुम्**—देखने; **च**—तथा; **तत्त्वेन**—वास्तव में; **प्रवेष्टुम्**—प्रवेश करने; **च**—भी; **परन्तप**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले।

हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति द्वारा मुझे उस रूप में समझा जा सकता है, जिस रूप में मैं तुम्हारे समक्ष खड़ा हूँ और इसी प्रकार मेरा साक्षात् दर्शन भी किया जा सकता है। केवल इसी विधि से तुम मेरे ज्ञान के रहस्य को पा सकते हो।

तात्पर्य : कृष्ण को केवल अनन्य भक्तियोग द्वारा समझा जा सकता है। इस श्लोक में वे इसे स्पष्टतया कहते हैं, जिससे ऐसे अनधिकारी टीकाकार जो *भगवद्गीता* को केवल कल्पना के द्वारा समझना चाहते हैं, यह जान सकें कि वे समय का अपव्यय कर रहे हैं। कोई यह नहीं जान सकता कि वे किस प्रकार चतुर्भुज रूप में माता के गर्भ से उत्पन्न हुए और फिर तुरन्त ही दो भुजाओं वाले रूप में बदल गये। ये बातें न तो वेदों के अध्ययन से समझी जा सकती हैं, न दार्शनिक चिन्तन द्वारा। अतः यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि न तो कोई उन्हें देख सकता है और न इन बातों का रहस्य ही समझ सकता है। किन्तु जो लोग वैदिक साहित्य के अनुभवी विद्यार्थी हैं वे अनेक प्रकार से वैदिक ग्रंथों के माध्यम से उन्हें जान सकते हैं। इसके लिए अनेक विधि-विधान हैं और यदि कोई सचमुच उन्हें जानना चाहता है तो उसे प्रामाणिक ग्रंथों में उल्लिखित विधियों का पालन करना चाहिए। वह इन नियमों के अनुसार तपस्या कर सकता है। उदाहरणार्थ, कठिन तपस्या के हेतु वह कृष्णजन्माष्टमी को, जो कृष्ण का आविर्भाव दिवस है, तथा मास की दोनों एकादशियों को उपवास कर सकता है। जहाँ तक दान का सम्बन्ध है, यह बात साफ है कि उन कृष्ण भक्तों को यह दान दिया जाय जो संसार भर में कृष्ण-दर्शन को या कृष्णभावनामृत को फैलाने में लगे हुए हैं। कृष्णभावनामृत मानवता के लिए वरदान है। रूप गोस्वामी ने भगवान् चैतन्य की प्रशंसा परम दानवीर के रूप में की है, क्योंकि उन्होंने कृष्ण प्रेम का मुक्तरीति से विस्तार किया, जिसे प्राप्त कर पाना बहुत कठिन है। अतः यदि कोई कृष्णभावनामृत का प्रचार करने वाले व्यक्तियों को अपना धन दान में देता है, तो कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए दिया गया यह दान संसार का सबसे बड़ा दान है। और यदि कोई मन्दिर में जाकर विधिपूर्वक पूजा करता है (भारत के मन्दिरों में सदा कोई न कोई मूर्ति, सामान्यतया विष्णु या कृष्ण की मूर्ति रहती है) तो यह भगवान् की पूजा करके तथा उन्हें सम्मान प्रदान करके उन्नति करने का अवसर होता है। नौसिखियों के लिए भगवान् की भक्ति करते हुए मन्दिर-पूजा अनिवार्य है, जिसकी पुष्टि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (६.२३) हुई है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिसमें भगवान् के लिए अविचल भक्तिभाव होता है और जिसका मार्गदर्शन गुरु

करता है, जिसमें भी उसकी वैसी ही अविचल श्रद्धा होती है, वह भगवान् का दर्शन प्रकट रूप में कर सकता है। मानसिक चिन्तन (मनोधर्म) द्वारा कृष्ण को नहीं समझा जा सकता। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त नहीं करता, उसके लिए कृष्ण को समझने का शुभारम्भ कर पाना भी कठिन है। यहाँ पर *तु* शब्द का प्रयोग विशेष रूप से यह सूचित करने के लिए हुआ है कि कोई अन्य विधि न तो बताई जा सकती है, न प्रयुक्त की जा सकती है, न ही कृष्ण को समझने में सफल हो सकती है।

कृष्ण के चतुर्भुज तथा द्विभुज साक्षात् रूप अर्जुन को दिखाये गये क्षणिक विश्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं। नारायण का चतुर्भुज रूप तथा कृष्ण का द्विभुज रूप दोनों ही शाश्वत तथा दिव्य हैं, जबकि अर्जुन को दिखलाया गया विश्वरूप नश्वर है। *सुदुर्दर्शम्* शब्द का अर्थ ही है "देख पाने में कठिन", जिससे पता चलता है कि इस विश्वरूप को किसी ने नहीं देखा था। इससे यह भी पता चलता है कि भक्तों को इस रूप को दिखाने की आवश्यकता भी नहीं थी। इस रूप को कृष्ण ने अर्जुन की प्रार्थना पर दिखाया था, जिससे भविष्य में यदि कोई अपने को भगवान् का अवतार कहे तो लोग उससे कह सकें कि तुम अपना विश्वरूप दिखलाओ।

पिछले श्लोक में *न* शब्द की पुनरुक्ति सूचित करती है कि मनुष्य को वैदिक ग्रंथों के पाण्डित्य का गर्व नहीं होना चाहिए। उसे कृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। तभी वह *भगवद्गीता* की टीका लिखने का प्रयास कर सकता है।

कृष्ण विश्वरूप से नारायण के चतुर्भुज रूप में और फिर अपने सहज द्विभुज रूप में परिणत होते हैं। इससे यह सूचित होता है कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित चतुर्भुज रूप तथा अन्य रूप कृष्ण के आदि द्विभुज रूप ही से उद्भूत हैं। वे समस्त उद्भवों के उद्गम हैं। कृष्ण इनसे भी भिन्न हैं, निर्विशेष रूप की कल्पना का तो कुछ कहना ही नहीं। जहाँ तक कृष्ण के चतुर्भुजी रूपों का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण का सर्वाधिक निकट चतुर्भुजी रूप (जो महाविष्णु के नाम से विख्यात हैं और जो कारणार्णव में शयन करते हैं तथा जिनके श्वास तथा प्रश्वास में अनेक ब्रह्माण्ड निकलते एवं प्रवेश करते रहते हैं) भी भगवान् का अंश है। जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में (५.४८) कहा गया है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

"जिनके श्वास लेने से ही जिनमें अनन्त ब्रह्माण्ड प्रवेश करते हैं तथा पुनः बाहर निकल आते हैं, वे महाविष्णु कृष्ण के अंश रूप हैं। अतः मैं गोविन्द या कृष्ण की पूजा करता हूँ जो समस्त कारणों के कारण हैं।" अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के साकार रूप को भगवान् मानकर पूजे, क्योंकि वही सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे विष्णु के समस्त रूपों के उद्गम हैं, वे समस्त अवतारों के उद्गम हैं और आदि महापुरुष हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* से पुष्ट होता है।

गोपाल-तापनी उपनिषद् में (१.१) निम्नलिखित कथन आया है—

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥

"मैं कृष्ण को प्रणाम करता हूँ जो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ, क्योंकि उनको जान लेने का अर्थ है, वेदों को जान लेना। अतः वे परम गुरु हैं।" उसी प्रकरण में कहा गया है—*कृष्णो वै परमं दैवतम्*—कृष्ण भगवान् हैं (*गोपाल तापनी उपनिषद्* १.३)। *एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः*—वह कृष्ण भगवान् हैं और पूज्य हैं। *एकोऽपि सन्बहुधा योऽवभाति*—कृष्ण एक हैं, किन्तु वे अनन्त रूपों तथा अंश अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं (*गोपाल तापनी* १.२१)।

ब्रह्मसंहिता (५.१) का कथन है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"भगवान् तो कृष्ण हैं, जो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनका कोई आदि नहीं है, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के आदि हैं। वे समस्त कारणों के कारण हैं।"

अन्यत्र भी कहा गया है—*यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति*—भगवान् एक व्यक्ति है, उसका नाम कृष्ण है और वह कभी-कभी इस पृथ्वी पर अवतरित होता है। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में भगवान् के सभी प्रकार के अवतारों का वर्णन मिलता है, जिसमें कृष्ण का भी नाम है। किन्तु तब यह कहा गया है कि यह कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं हैं, अपितु साक्षात् भगवान् हैं (*एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)।

इसी प्रकार *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्*—मुझ भगवान् कृष्ण के रूप से कोई श्रेष्ठ नहीं है। अन्यत्र भी कहा गया है—*अहम् आदिर्हि देवानाम्*—मैं समस्त देवताओं का उद्गम हूँ। कृष्ण से *भगवद्गीता* ज्ञान प्राप्त करने पर अर्जुन भी इन शब्दों में इसकी पुष्टि करता है—*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*—अब मैं भलीभाँति समझ गया कि आप परम सत्य भगवान् हैं और प्रत्येक वस्तु के आश्रय हैं। अतः कृष्ण ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखलाया वह उनका आदि रूप नहीं है। आदि रूप तो कृष्ण रूप है। हजारों हाथों तथा हजारों सिरों वाला विश्वरूप तो उन लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए दिखलाया गया, जिनका ईश्वर से तनिक भी प्रेम नहीं है। यह ईश्वर का आदि रूप नहीं है।

विश्वरूप उन शुद्धभक्तों के लिए तनिक भी आकर्षक नहीं होता, जो विभिन्न दिव्य सम्बन्धों में भगवान् से प्रेम करते हैं। भगवान् अपने आदि कृष्ण रूप में ही प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं। अतः कृष्ण से घनिष्ठ मैत्री भाव से सम्बन्धित अर्जुन को यह विश्वरूप तनिक भी रुचिकर नहीं लगा, अपितु उसे भयानक लगा। कृष्ण के चिर सखा अर्जुन के पास अवश्य ही दिव्य दृष्टि रही होगी, वह भी कोई सामान्य व्यक्ति न था। इसीलिए वह विश्वरूप से मोहित नहीं हुआ। यह रूप उन लोगों को भले ही अलौकिक लगे, जो अपने को सकाम कर्मों द्वारा ऊपर उठाना चाहते हैं, किन्तु भक्ति में रत व्यक्तियों के लिए तो दोभुजा वाले कृष्ण का रूप ही अत्यन्त प्रिय है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

मत्-कर्म-कृत्—मेरा कर्म करने में रत; **मत्-परमः**—मुझको परम मानते हुए; **मत्-भक्तः**—मेरी भक्ति में रत; **सङ्ग-वर्जितः**—सकाम कर्म तथा मनोधर्म के कल्मष से मुक्त; **निर्वैरः**—किसी से शत्रुतारहित; **सर्व-भूतेषु**—समस्त जीवों में; **यः**—जो; **सः**—वह; **माम्**—मुझको; **एति**—प्राप्त करता है; **पाण्डव**—हे पाण्डु के पुत्र।

हे अर्जुन! जो व्यक्ति सकाम कर्मों तथा मनोधर्म के कल्मष से मुक्त होकर, मेरी शुद्ध भक्ति में तत्पर रहता है, जो मेरे लिए ही कर्म करता है, जो मुझे ही जीवन-लक्ष्य समझता है और जो प्रत्येक जीव से मैत्रीभाव रखता है, वह निश्चय ही मुझे प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जो कोई चिन्मय व्योम के कृष्णलोक में परम पुरुष को प्राप्त करके भगवान् कृष्ण से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, उसे स्वयं भगवान् द्वारा बताये गये इस मन्त्र को ग्रहण करना होगा। अतः यह श्लोक *भगवद्गीता* का सार माना जाता है। *भगवद्गीता* एक ऐसा ग्रंथ है, जो उन बद्धजीवों की ओर लक्षित है, जो इस भौतिक संसार में प्रकृति पर प्रभुत्व जताने में लगे हुए हैं और वास्तविक आध्यात्मिक जीवन के बारे में नहीं जानते हैं। *भगवद्गीता* का उद्देश्य यह दिखाना है कि मनुष्य किस प्रकार अपने आध्यात्मिक अस्तित्व को तथा भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझ सकता है तथा उसे यह शिक्षा देना है कि वह भगवद्धाम को कैसे पहुँच सकता है। यह श्लोक उस विधि को स्पष्ट रूप से बताता है, जिससे मनुष्य अपने आध्यात्मिक कार्य में अर्थात् भक्ति में सफलता प्राप्त कर सकता है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (२.२५५) कहा गया है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

ऐसा कोई कार्य न करे जो कृष्ण से सम्बन्धित न हो। यह *कृष्णकर्म* कहलाता है। कोई भले ही कितने कर्म क्यों न करे, किन्तु उसे उनके फल के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। यह फल तो कृष्ण को ही अर्पित किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यापार में व्यस्त है, तो उसे इस व्यापार को कृष्णभावनामृत में परिणत करने के लिए, कृष्ण को अर्पित करना होगा। यदि कृष्ण व्यापार के स्वामी हैं, तो इसका लाभ भी उन्हें ही मिलना चाहिए। यदि किसी व्यापारी के पास करोड़ों रुपए की सम्पत्ति हो और यदि वह इसे कृष्ण को अर्पित करना चाहे, तो वह ऐसा कर सकता है। यही *कृष्णकर्म* है। अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए विशाल भवन न बनवाकर, वह कृष्ण के लिए सुन्दर मन्दिर बनवा सकता है, कृष्ण का अर्चाविग्रह स्थापित कर सकता है और भक्ति के प्रामाणिक ग्रंथों में वर्णित अर्चाविग्रह की सेवा का प्रबन्ध करा सकता है। यह सब *कृष्णकर्म* है। मनुष्य को अपने कर्मफल में लिप्त नहीं होना चाहिए, अपितु इसे कृष्ण को अर्पित करके बची हुई वस्तु को केवल प्रसाद रूप में ग्रहण करना चाहिए। यदि कोई कृष्ण के लिए विशाल भवन बनवा देता है और उसमें कृष्ण का अर्चाविग्रह स्थापित कराता है, तो

उसमें उसे रहने की मनाही नहीं रहती, लेकिन कृष्ण को ही इस भवन का स्वामी मानना चाहिए। यही कृष्णभावनामृत है। किन्तु यदि कोई कृष्ण के लिए मन्दिर नहीं बनवा सकता तो वह कृष्ण-मन्दिर की सफाई में तो लग सकता है, यह भी कृष्णकर्म है। वह बगीचे की देखभाल कर सकता है। जिसके पास थोड़ी सी भी भूमि है—जैसा कि भारत के निर्धन से निर्धन व्यक्ति के पास भी होती है—तो वह उसका उपयोग कृष्ण के लिए फूल उगाने के लिए कर सकता है। वह तुलसी के वृक्ष उगा सकता है, क्योंकि तुलसीदल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और *भगवद्गीता* में कृष्ण ने उनको आवश्यक बताया है। *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्*। कृष्ण चाहते हैं कि लोग उन्हें पत्र, पुष्प, फल या थोड़ा जल भेंट करें और इस प्रकार की भेंट से वे प्रसन्न रहते हैं। यह पत्र विशेष रूप से तुलसीदल ही है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह तुलसी का पौधा लगाकर उसे सींचे। इस तरह गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपने को कृष्णसेवा में लगा सकता है। ये कतिपय उदाहरण हैं, जिस तरह कृष्णकर्म में लगा जा सकता है।

मत्परमः शब्द उस व्यक्ति के लिए आता है जो अपने जीवन का परमलक्ष्य, भगवान् कृष्ण के परमधाम में उनकी संगति करना मानता है। ऐसा व्यक्ति चन्द्र, सूर्य या स्वर्ग जैसे उच्चतर लोकों में अथवा इस ब्रह्माण्ड के उच्चतम स्थान ब्रह्मलोक तक में भी जाने का इच्छुक नहीं रहता। उसे इसकी तनिक भी इच्छा नहीं रहती। उसकी आसक्ति तो आध्यात्मिक आकाश में जाने में रहती है। आध्यात्मिक आकाश में भी वह ब्रह्मज्योति से तादात्म्य प्राप्त करके भी संतुष्ट नहीं रहता, क्योंकि वह तो सर्वोच्च आध्यात्मिक लोक में जाना चाहता है, जिसे कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन कहते हैं। उसे उस लोक का पूरा ज्ञान रहता है, अतः वह अन्य किसी लोक को नहीं चाहता। जैसा कि *मद्भक्तः* शब्द से सूचित होता है, वह भक्ति में पूर्णतया रत रहता है। विशेष रूप से वह श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्ति के इन नौ साधनों में लगा रहता है। मनुष्य चाहे तो इन नवों साधनों में रत रह सकता है अथवा आठ में, सात में, नहीं तो कम से कम एक में तो रत रह सकता है। तब वह निश्चित रूप से कृतार्थ हो जाएगा।

सङ्ग-वर्जितः शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे लोगों से सम्बन्ध तोड़ ले जो कृष्ण के विरोधी हैं। न केवल नास्तिक लोग कृष्ण के विरुद्ध रहते हैं, अपितु वे भी हैं, जो सकाम कर्मों तथा मनोधर्म के प्रति आसक्त रहते हैं। अतः *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.१.११) शुद्धभक्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी स्पष्ट कहते हैं कि यदि कोई अनन्य भक्ति करना चाहता है, तो उसे समस्त प्रकार के भौतिक कल्मष से मुक्त होना चाहिए। उसे ऐसे व्यक्तियों से दूर रहना चाहिए जो सकामकर्म तथा मनोधर्म में आसक्त हैं। ऐसी अवांछित संगति तथा भौतिक इच्छाओं के कल्मष से मुक्त होने पर ही वह कृष्ण ज्ञान का अनुशीलन कर सकता है, जिसे शुद्ध भक्ति कहते हैं। *आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्* (*हरि भक्ति विलास* ११.६७६)। मनुष्य को चाहिए कि अनुकूल भाव से कृष्ण के विषय

में सोचे और उन्हीं के लिए कर्म करे, प्रतिकूल भाव से नहीं। कंस कृष्ण का शत्रु था। वह कृष्ण के जन्म से ही उन्हें मारने की तरह-तरह की योजनाएँ बनाता रहा। किन्तु असफल होने के कारण वह सदैव कृष्ण का चिन्तन करता रहा। इस तरह सोते जगते, काम करते वह सदैव कृष्णभावनाभावित रहा, किन्तु उसकी वह कृष्णभावना अनुकूल न थी, अतः चौबीस घंटे कृष्ण का चिन्तन करते रहने पर भी वह असुर ही माना जाता रहा और अन्त में कृष्ण द्वारा मार डाला गया। निस्सन्देह कृष्ण द्वारा वध किये गये व्यक्ति को तुरन्त मोक्ष मिल जाता है, किन्तु शुद्धभक्त का उद्देश्य यह नहीं है। शुद्धभक्त तो मोक्ष की भी कामना नहीं करता। वह सर्वोच्चलोक, गोलोक वृन्दावन भी नहीं जाना चाहता। उसका एकमात्र उद्देश्य कृष्ण की सेवा करना है, चाहे वह जहाँ भी रहे।

कृष्णभक्त प्रत्येक से मैत्रीभाव रखता है। इसीलिए यहाँ उसे *निर्वैरः* कहा गया है अर्थात् उसका कोई शत्रु नहीं होता। यह कैसे सम्भव है? कृष्णभावनामृत में स्थित भक्त जानता है कि कृष्ण की भक्ति ही मनुष्य को जीवन की समस्त समस्याओं से छुटकारा दिला सकती है। उसे इसका व्यक्तिगत अनुभव रहता है। फलतः वह इस प्रणाली को—कृष्णभावनामृत को—मानव समाज में प्रचारित करना चाहता है। भगवद्भक्तों का इतिहास साक्षी है कि ईश्वर चेतना का प्रचार करने में कई बार भक्तों को अपने जीवन को संकटों में डालना पड़ा। सबसे उपयुक्त उदाहरण जीसस क्राइस्ट का है। उन्हें अभक्तों ने शूली पर चढ़ा दिया, किन्तु उन्होंने अपना जीवन कृष्णभावनामृत के प्रसार में उत्सर्ग किया। निस्सन्देह यह कहना कि वे मारे गये ठीक नहीं है। इसी प्रकार भारत में भी अनेक उदाहरण हैं, यथा प्रह्लाद महाराज तथा ठाकुर हरिदास। ऐसा संकट उन्होंने क्यों उठाया? क्योंकि वे कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहते थे और यह कठिन कार्य है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूलने के कारण ही कष्ट भोग रहा है। अतः मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा होगी कि अपने पड़ोसी को समस्त भौतिक समस्याओं से उबारा जाय। इस प्रकार शुद्धभक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है। तभी हम समझ सकते हैं कि कृष्ण उन लोगों पर कितने कृपालु हैं, जो उनकी सेवा में लगे रहकर उनके लिए सभी प्रकार के कष्ट सहते हैं। अतः यह निश्चित है कि ऐसे लोग इस शरीर को छोड़ने के बाद परमधाम को प्राप्त होते हैं।

सारांश यह कि कृष्ण ने अपने क्षणभंगुर विश्वरूप के साथ-साथ काल रूप को जो सब कुछ भक्षण करने वाला है और यहाँ तक कि चतुर्भुज विष्णुरूप को भी दिखलाया। इस तरह कृष्ण इन समस्त स्वरूपों के उद्गम हैं। ऐसा नहीं है कि वे आदि विश्वरूप या विष्णु की ही अभिव्यक्ति हैं। वे समस्त रूपों के उद्गम हैं। विष्णु तो हजारों लाखों हैं, लेकिन भक्त के लिए कृष्ण का कोई अन्य रूप उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि मूल दोभुजी श्यामसुन्दर रूप। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि जो प्रेम या भक्तिभाव से कृष्ण के श्यामसुन्दर रूप के प्रति आसक्त हैं, वे सदैव उन्हें अपने हृदय में देख सकते हैं, और कुछ भी नहीं देख सकते। अतः मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि इस ग्यारहवें अध्याय का तात्पर्य यही है कि कृष्ण का रूप ही सर्वोपरि है एवं परम सार है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के ग्यारहवें अध्याय "विराट रूप" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय बारह

भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **सतत**—निरन्तर; **युक्ताः**—तत्पर; **ये**—जो; **भक्ताः**—भक्तगण; **त्वाम्**—आपको; **पर्युपासते**—ठीक से पूजते हैं; **ये**—जो; **च**—भी; **अपि**—पुनः; **अक्षरम्**—इन्द्रियों से परे; **अव्यक्तम्**—अप्रकट को; **तेषाम्**—उनमें से; **के**—कौन; **योगवित्-तमाः**—योगविद्या में अत्यन्त निपुण।

अर्जुन ने पूछा—जो आपकी सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं, या जो अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म की पूजा करते हैं, इन दोनों में से किसे अधिक पूर्ण (सिद्ध) माना जाय?

तात्पर्य : अब तक कृष्ण साकार, निराकार एवं सर्वव्यापकत्व को समझा चुके हैं और सभी प्रकार के भक्तों और योगियों का भी वर्णन कर चुके हैं। सामान्यतः अध्यात्मवादियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—निर्विशेषवादी तथा सगुणवादी। सगुणवादी भक्त अपनी सारी शक्ति से परमेश्वर की सेवा करता है। निर्विशेषवादी भी

कृष्ण की सेवा करता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से न करके वह अप्रत्यक्ष निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करता है।

इस अध्याय में हम देखेंगे कि परम सत्य की अनुभूति की विभिन्न विधियों में भक्तियोग सर्वोत्कृष्ट है। यदि कोई भगवान् का सान्निध्य चाहता है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए।

जो लोग भक्ति के द्वारा परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा करते हैं, वे सगुणवादी कहलाते हैं। जो लोग निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे निर्विशेषवादी कहलाते हैं। यहाँ पर अर्जुन पूछता है कि इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। यद्यपि परम सत्य के साक्षात्कार के अनेक साधन हैं, किन्तु इस अध्याय में कृष्ण भक्तियोग को सबों में श्रेष्ठ बताते हैं। यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष है और ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए सबसे सुगम साधन है।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान् ने बताया है कि जीव भौतिक शरीर नहीं है, वह आध्यात्मिक स्फुलिंग है और परम सत्य परम पूर्ण है। सातवें अध्याय में उन्होंने जीव को परम पूर्ण का अंश बताते हुए पूर्ण पर ही ध्यान लगाने की सलाह दी है। पुनः आठवें अध्याय में कहा है कि जो मनुष्य भौतिक शरीर का त्याग करते समय कृष्ण का ध्यान करता है, वह कृष्ण के धाम को तुरन्त चला जाता है। यही नहीं, छठे अध्याय के अन्त में भगवान् स्पष्ट कहते हैं, कि योगियों में से, जो भी अपने अन्तःकरण में निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है, वही परम सिद्ध माना जाता है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक अध्याय का यही निष्कर्ष है कि मनुष्य को कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त होना चाहिए, क्योंकि वही चरम आत्म-साक्षात्कार है।

इतने पर भी ऐसे लोग हैं जो कृष्ण के साकार रूप के प्रति अनुरक्त नहीं होते। वे दृढ़तापूर्वक विलग रहते है यहाँ तक कि *भगवद्गीता* की टीका करते हुए भी वे अन्य लोगों को कृष्ण से हटाना चाहते हैं, और उनकी सारी भक्ति निर्विशेष ब्रह्मज्योति की ओर मोड़ते हैं। वे परम सत्य के उस निराकार रूप का ही ध्यान करना श्रेष्ठ मानते हैं, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है तथा अप्रकट है।

इस तरह सचमुच में अध्यात्मवादियों की दो श्रेणियाँ हैं। अब अर्जुन यह निश्चित कर लेना चाहता है कि कौन-सी विधि सुगम है, और इन दोनों श्रेणियों में से कौन सर्वाधिक पूर्ण है। दूसरे शब्दों में, वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर लेना चाहता है, क्योंकि वह कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त है। वह निराकार ब्रह्म के प्रति आसक्त नहीं है। वह जान लेना चाहता है कि उसकी स्थिति सुरक्षित तो है! निराकार स्वरूप, चाहे इस लोक में हो चाहे भगवान् के परम लोक में हो, ध्यान के लिए समस्या बना रहता है। वास्तव में कोई भी परम सत्य के निराकार रूप का ठीक से चिन्तन नहीं कर सकता। अतः अर्जुन कहना चाहता है कि इस तरह से समय गँवाने से क्या लाभ? अर्जुन को ग्यारहवें अध्याय में अनुभव हो चुका है कि कृष्ण के साकार रूप के प्रति आसक्त होना श्रेष्ठ है, क्योंकि इस तरह वह एक ही समय अन्य सारे रूपों को समझ सकता है और कृष्ण के प्रति उसके प्रेम में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। अतः अर्जुन द्वारा कृष्ण से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के पूछे जाने से परम सत्य के निराकार तथा साकार स्वरूपों का अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **मयि**—मुझमें; **आवेश्य**—स्थिर करके; **मनः**—मन को; **ये**—जो; **माम्**—मुझको; **नित्य**—सदा; **युक्ताः**—लगे हुए; **उपासते**—पूजा करते हैं; **श्रद्धया**—श्रद्धापूर्वक; **परया**—दिव्य; **उपेताः**—प्रदत्त; **ते**—वे; **मे**—मेरे द्वारा; **युक्त-तमाः**—योग में परम सिद्ध; **मताः**—माने जाते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा—जो लोग अपने मन को मेरे साकार रूप में एकाग्र करते हैं, और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करने में सदैव लगे रहते हैं, वे मेरे द्वारा परम सिद्ध माने जाते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जो व्यक्ति उनके साकार रूप में अपने मन को एकाग्र करता है, और जो अत्यन्त श्रद्धा तथा निष्ठापूर्वक उनको पूजता है, उसे योग में परम सिद्ध मानना चाहिए। जो इस प्रकार कृष्णभावनाभावित होता है, उसके लिए कोई भी भौतिक कार्यकलाप नहीं रह जाते, क्योंकि हर कार्य कृष्ण के लिए किया जाता है। शुद्ध भक्त निरन्तर कार्यरत रहता है—कभी कीर्तन करता है, तो कभी श्रवण करता है, या कृष्ण विषयक कोई पुस्तक पढ़ता है, या कभी-कभी प्रसाद तैयार करता है या बाजार से कृष्ण के लिए कुछ मोल लाता है, या कभी मन्दिर झाड़ता-बुहारता है, तो कभी बर्तन धोता है। वह जो कुछ भी करता है, कृष्ण सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में एक क्षण भी नहीं गँवाता। ऐसा कार्य पूर्ण समाधि कहलाता है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

ये—जो; **तु**—लेकिन; **अक्षरम्**—इन्द्रिय अनुभूति से परे; **अनिर्देश्यम्**—अनिश्चित; **अव्यक्तम्**—अप्रकट; **पर्युपासते**—पूजा करने में पूर्णतया संलग्न; **सर्वत्र-गम्**—सर्वव्यापी; **अचिन्त्यम्**—अकल्पनीय; **च**—भी; **कूट-स्थम्**—अपरिवर्तित; **अचलम्**—स्थिर; **ध्रुवम्**—निश्चित; **सन्नियम्य**—वश में करके; **इन्द्रिय-ग्रामम्**—सारी इन्द्रियों को; **सर्वत्र**—सभी स्थानों में; **सम-बुद्धयः**—समदर्शी; **ते**—वे; **प्राप्नुवन्ति**—प्राप्त करते हैं; **माम्**—मुझको; **एव**—निश्चय ही; **सर्व-भूत-हिते**—समस्त जीवों के कल्याण के लिए; **रताः**—संलग्न।

लेकिन जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में करके तथा सबों के प्रति समभाव रखकर परम सत्य की निराकार कल्पना के अन्तर्गत उस अव्यक्त की पूरी तरह से पूजा करते हैं, जो इन्द्रियों की अनुभूति के परे है, सर्वव्यापी है, अकल्पनीय है,

अपरिवर्तनीय है, अचल तथा ध्रुव है, वे समस्त लोगों के कल्याण में संलग्न रहकर अन्ततः मुझे प्राप्त करते है।

तात्पर्य : जो लोग भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष पूजा न करके, अप्रत्यक्ष विधि से उसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, वे भी अन्ततः श्रीकृष्ण को प्राप्त होते हैं। "अनेक जन्मों के बाद बुद्धिमान व्यक्ति वासुदेव को ही सब कुछ जानते हुए मेरी शरण में आता है।" जब मनुष्य को अनेक जन्मों के बाद पूर्ण ज्ञान होता है, तो वह कृष्ण की शरण ग्रहण करता है। यदि कोई इस श्लोक में बताई गई विधि से भगवान् के पास पहुँचता है, तो उसे इन्द्रियनिग्रह करना होता है, प्रत्येक प्राणी की सेवा करनी होती है, और समस्त जीवों के कल्याण-कार्य में रत होना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को भगवान् कृष्ण के पास पहुँचना ही होता है, अन्यथा पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो पाता। प्रायः भगवान् की शरण में जाने के पूर्व पर्याप्त तपस्या करनी होती है।

आत्मा के भीतर परमात्मा का दर्शन करने के लिए मनुष्य को देखना, सुनना, स्वाद लेना, कार्य करना आदि ऐन्द्रिय कार्यों को बन्द करना होता है। तभी वह यह जान पाता है कि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। ऐसी अनुभूति होने पर वह किसी जीव से ईर्ष्या नहीं करता—उसे मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि वह केवल आत्मा का दर्शन करता है, बाह्य आवरण का नहीं। लेकिन सामान्य व्यक्ति के लिए निराकार अनुभूति की यह विधि अत्यन्त कठिन सिद्ध होती है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

क्लेशः—कष्ट; **अधिकतरः**—अत्यधिक; **तेषाम्**—उन; **अव्यक्त**—अव्यक्त के प्रति; **आसक्त**—अनुरक्त; **चेतसाम्**—मन वालों का; **अव्यक्ता**—अव्यक्त की ओर; **हि**—निश्चय ही; **गतिः**—प्रगति; **दुःखम्**—दुख के साथ; **देह-वद्भिः**—देहधारी के द्वारा; **अवाप्यते**—प्राप्त किया जाता है।

जिन लोगों के मन परमेश्वर के अव्यक्त, निराकार स्वरूप के प्रति आसक्त हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना अत्यन्त कष्टप्रद है। देहधारियों के लिए उस क्षेत्र में प्रगति कर पाना सदैव दुष्कर होता है।

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों का समूह, जो परमेश्वर के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप के पथ का अनुसरण करता है, ज्ञान-योगी कहलाता है, और जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति में रत रहकर पूर्ण कृष्णभावनाभृत में रहते हैं, वे भक्ति-योगी कहलाते हैं। यहाँ पर ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग में निश्चित अन्तर बताया गया है। ज्ञान-योग का पथ यद्यपि मनुष्य को उसी लक्ष्य तक पहुँचाता है, किन्तु है अत्यन्त कष्टकारक, जब कि भक्ति-योग भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा होने के कारण सुगम है, और देहधारी के लिए स्वाभाविक भी है। जीव अनादि काल से देहधारी है। सैद्धान्तिक रूप से उसके लिए यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि वह शरीर नहीं है। अतएव भक्ति-योगी कृष्ण के विग्रह को पूज्य मानता है, क्योंकि उसके मन में कोई न कोई शारीरिक बोध रहता है, जिसे इस रूप में

प्रयुक्त किया जा सकता है। निस्सन्देह मन्दिर में परमेश्वर के स्वरूप की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है। वैदिक साहित्य में साक्ष्य मिलता है कि पूजा *सगुण* तथा *निर्गुण* हो सकती है। मन्दिर में विग्रह-पूजा सगुण पूजा है, क्योंकि भगवान् को भौतिक गुणों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। लेकिन भगवान् के स्वरूप को चाहे पत्थर, लकड़ी या तैलचित्र जैसे भौतिक गुणों द्वारा क्यों न अभिव्यक्त किया जाय वह वास्तव में भौतिक नहीं होता। परमेश्वर की यही परम प्रकृति है।

यहाँ पर एक मोटा उदाहरण दिया जा सकता है। सड़कों के किनारे पत्रपेटिकाएँ होती हैं, जिनमें यदि हम अपने पत्र डाल दें, तो वे बिना किसी कठिनाई के अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। लेकिन यदि कोई ऐसी पुरानी पेटिका, या उसकी अनुकृति कहीं दिखे, जो डाकघर द्वारा स्वीकृत न हो, तो उससे वही कार्य नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार ईश्वर ने विग्रहरूप में, जिसे अर्चा-विग्रह कहते हैं, अपना प्रामाणिक (वैध) स्वरूप बना रखा है। यह अर्चा-विग्रह परमेश्वर का अवतार होता है। ईश्वर इसी स्वरूप के माध्यम से सेवा स्वीकार करते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे अर्चा-विग्रह रूपी अपने अवतार से भक्त की सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं, जिससे बद्ध जीवन वाले मनुष्य को सुविधा हो।

इस प्रकार भक्त को भगवान् के पास सीधे और तुरन्त ही पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती, लेकिन जो लोग आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए निराकार विधि का अनुसरण करते हैं, उनके लिए यह मार्ग कठिन है। उन्हें उपनिषदों जैसे वैदिक साहित्य के माध्यम से अव्यक्त स्वरूप को समझना होता है, उन्हें भाषा सीखनी होती है, इन्द्रियातीत अनुभूतियों को समझना होता है, और इन समस्त विधियों का ध्यान रखना होता है। यह सब एक सामान्य व्यक्ति के लिए सुगम नहीं होता। कृष्णभावनामृत में भक्तिरत मनुष्य मात्र गुरु के पथप्रदर्शन द्वारा, मात्र अर्चाविग्रह के नियमित नमस्कार द्वारा, मात्र भगवान् की महिमा के श्रवण द्वारा तथा मात्र भगवान् पर चढ़ाये गये उच्छिष्ट भोजन को खाने से भगवान् को सरलता से समझ लेता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि निर्विशेषवादी व्यर्थ ही कष्टकारक पथ को ग्रहण करते हैं, जिसमें अन्ततः परम सत्य का साक्षात्कार संदिग्ध बना रहता है। किन्तु सगुणवादी बिना किसी संकट, कष्ट या कठिनाई के भगवान् के पास सीधे पहुँच जाते हैं। ऐसा ही संदर्भ *श्रीमद्भागवत* में पाया जाता है। वहाँ यह कहा गया है कि यदि अन्ततः भगवान् की शरण में जाना ही है (इस शरण जाने की क्रिया को भक्ति कहते हैं) तो यदि कोई, ब्रह्म क्या है और क्या नहीं है, इसी को समझने का कष्ट आजीवन उठाता रहता है, तो इसका परिणाम अत्यन्त कष्टकारक होता है। अतएव यहाँ पर यह उपदेश दिया गया है कि आत्म-साक्षात्कार के इस कष्टप्रद मार्ग को ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्तिम फल अनिश्चित रहता है।

जीव शाश्वत रूप से व्यष्टि आत्मा है और यदि वह आध्यात्मिक पूर्ण में तदाकार होना चाहता है तो वह अपनी मूल प्रकृति के शाश्वत (सत्) तथा ज्ञेय (चित्) पक्षों का साक्षात्कार तो कर सकता है, लेकिन आनन्दमय अंश की प्राप्ति नहीं हो पाती। ऐसा अध्यात्मवादी जो ज्ञानयोग में अत्यन्त विद्वान होता है, किसी भक्त के अनुग्रह से भक्तियोग को प्राप्त होता है। उस समय निराकारवाद का दीर्घ अभ्यास कष्ट का कारण बन जाता

है, क्योंकि वह उस विचार को त्याग नहीं पाता। अतएव देहधारी जीव, अभ्यास के समय या साक्षात्कार के समय, अव्यक्त की प्राप्ति में सदैव कठिनाई में पड़ जाता है। प्रत्येक जीव अंशतः स्वतन्त्र है और उसे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह अव्यक्त अनुभूति उसके आध्यात्मिक आनन्दमय आत्म (स्व) की प्रकृति के विरुद्ध है। मनुष्य को चाहिए कि इस विधि को न अपनाये। प्रत्येक जीव के लिए कृष्णचेतना की विधि श्रेष्ठ मार्ग है, जिसमें भक्ति में पूरी तरह व्यस्त रहना होता है। यदि कोई भक्ति की उपेक्षा करना चाहता है, तो नास्तिक होने का संकट रहता है। अतएव अव्यक्त विषयक एकाग्रता की विधि को, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है, जैसा कि इस श्लोक में पहले कहा जा चुका है, इस युग में प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। भगवान् कृष्ण ने इसका उपदेश नहीं दिया।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

ये–जो; **तु**–लेकिन; **सर्वाणि**–समस्त; **कर्माणि**–कर्मों को; **मयि**–मुझमें; **संन्यस्य**–त्याग कर; **मत्-पराः**–मुझमें आसक्त; **अनन्येन**–अनन्य; **एव**–निश्चय ही; **योगेन**–ऐसे भक्तियोग के अभ्यास से; **माम्**–मुझको; **ध्यायन्तः**–ध्यान करते हुए; **उपासते**–पूजा करते हैं; **तेषाम्**–उनका; **अहम्**–मैं; **समुद्धर्ता**–उद्धारक; **मृत्यु**–मृत्यु के; **संसार**–संसार रूपी; **सागरात्**–समुद्र से; **भवामि**–होता हूँ; **न**–नहीं; **चिरात्**–दीर्घकाल के बाद; **पार्थ**–हे पृथापुत्र; **मयि**–मुझ पर; **आवेशित**–स्थिर; **चेतसाम्**–मन वालों को।

जो अपने सारे कार्यों को मुझमें अर्पित करके तथा अविचलित भाव से मेरी भक्ति करते हुए मेरी पूजा करते हैं और अपने चित्तों को मुझ पर स्थिर करके निरन्तर मेरा ध्यान करते हैं, उनके लिए हे पार्थ! मैं जन्म-मृत्यु के सागर से शीघ्र उद्धार करने वाला हूँ।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भक्तजन अत्यन्त भाग्यशाली हैं कि भगवान् उनका इस भवसागर से तुरन्त ही उद्धार कर देते हैं। शुद्ध भक्ति करने पर मनुष्य को इसकी अनुभूति होने लगती है कि ईश्वर महान हैं और जीवात्मा उनके अधीन है। उसका कर्तव्य है कि वह भगवान् की सेवा करे और यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसे माया की सेवा करनी होगी।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि केवल भक्ति से परमेश्वर को जाना जा सकता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण रूप से भक्त बने। भगवान् को प्राप्त करने के लिए वह अपने मन को कृष्ण में पूर्णतया एकाग्र करे। वह कृष्ण के लिए ही कर्म करे। चाहे वह जो भी कर्म करे लेकिन वह कर्म केवल कृष्ण के लिए होना चाहिए। भक्ति का यही आदर्श है। भक्त भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। उसके जीवन का उद्देश्य कृष्ण को प्रसन्न करना होता है और कृष्ण की तुष्टि के लिए

वह सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है जिस प्रकार अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में किया था। यह विधि अत्यन्त सरल है। मनुष्य अपने कार्य में लगा रह कर *हरे कृष्ण* महामन्त्र का कीर्तन कर सकता है। ऐसे दिव्य कीर्तन से भक्त भगवान् के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

यहाँ पर भगवान् वचन देते हैं कि वे ऐसे शुद्ध भक्त का तुरन्त ही भवसागर से उद्धार कर देंगे। जो योगाभ्यास में बढ़े चढ़े हैं, वे योग द्वारा अपनी आत्मा को इच्छानुसार किसी भी लोक में ले जा सकते हैं और अन्य लोग इस अवसर को विभिन्न प्रकार से उपयोग में लाते हैं, लेकिन जहाँ तक भक्त का सम्बन्ध है, उसके लिए यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि स्वयं भगवान् ही उसे ले जाते हैं। भक्त को वैकुण्ठ में जाने के पूर्व अनुभवी बनने के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। *वराह पुराण* में एक श्लोक आया है—

नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना।
गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः॥

तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठलोक में आत्मा को ले जाने के लिए भक्त को अष्टांगयोग साधने की आवश्यकता नहीं है। इसका भार भगवान् स्वयं अपने ऊपर लेते हैं। वे यहाँ पर स्पष्ट कह रहे हैं कि वे स्वयं ही उद्धारक बनते हैं। बालक अपने माता-पिता द्वारा अपने आप रक्षित होता रहता है, जिससे उसकी स्थिति सुरक्षित रहती है। इसी प्रकार भक्त को योगाभ्यास द्वारा अन्य लोकों में जाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु भगवान् अपने अनुग्रहवश स्वयं ही अपने पक्षीवाहन गरुड़ पर सवार होकर तुरन्त आते हैं और भक्त को भवसागर से उबार लेते हैं। कोई कितना ही कुशल तैराक क्यों न हो, और कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, किन्तु समुद्र में गिर जाने पर वह अपने को नहीं बचा सकता। किन्तु यदि कोई आकर उसे जल से बाहर निकाल ले, तो वह आसानी से बच जाता है। इसी प्रकार भगवान् भक्त को इस भवसागर से निकाल लेते हैं। मनुष्य को केवल कृष्णभावनामृत की सुगम विधि का अभ्यास करना होता है, और अपने आपको अनन्य भक्ति में प्रवृत्त करना होता है। किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अन्य समस्त मार्गों की अपेक्षा भक्तियोग को चुने।

नारायणीय में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो सकाम कर्म की विभिन्न विधियों में उलझे, न ही कोरे चिन्तन से ज्ञान का अनुशीलन करे। जो परम भगवान् की भक्ति में लीन है, वह उन समस्त लक्ष्यों को प्राप्त करता है जो अन्य योग विधियों, चिन्तन, अनुष्ठानों, यज्ञों, दानपुण्यों आदि से प्राप्त होने वाले हैं। भक्ति का यही विशेष वरदान है।

केवल कृष्ण के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करने से ही भक्त सरलता तथा सुखपूर्वक परम धाम को पहुँच सकता है। लेकिन इस धाम को अन्य किसी धार्मिक विधि द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

भगवद्गीता का निष्कर्ष अठारहवें अध्याय में इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को त्याग कर केवल कृष्णभावनामृत में भक्ति सम्पन्न करनी चाहिए। इससे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य को अपने गत जीवन के पाप कर्मों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उसका उत्तरदायित्व भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। अतएव मनुष्य को व्यर्थ ही आध्यात्मिक अनुभूति में अपने उद्धार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह परम शक्तिमान ईश्वर कृष्ण की शरण ग्रहण करे। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥

मयि—मुझमें; **एव**—निश्चय ही; **मनः**—मन को; **आधत्स्व**—स्थिर करो; **मयि**—मुझमें; **बुद्धिम्**—बुद्धि को; **निवेशय**—लगाओ; **निवसिष्यसि**—तुम निवास करोगे; **मयि**—मुझमें; **एव**—निश्चय ही; **अतःऊर्ध्वम्**—तत्पश्चात्; **न**—कभी नहीं; **संशयः**—सन्देह।

मुझ भगवान् में अपने चित्त को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि मुझमें लगाओ। इस प्रकार तुम निस्सन्देह मुझमें सदैव वास करोगे।

तात्पर्य : जो भगवान् कृष्ण की भक्ति में रत रहता है, उसका परमेश्वर के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतएव इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि प्रारम्भ से ही उसकी स्थिति दिव्य होती है। भक्त कभी भौतिक धरातल पर नहीं रहता—वह सदैव कृष्ण में वास करता है। भगवान् का पवित्र नाम तथा भगवान् अभिन्न हैं। अतः जब भक्त *हरे कृष्ण* कीर्तन करता है, तो कृष्ण तथा उनकी अन्तरंगाशक्ति भक्त की जिव्हा पर नाचते रहते हैं। जब वह कृष्ण को भोग चढ़ाता है, तो कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उसे ग्रहण करते हैं और इस तरह भक्त इस उच्छिष्ट (जूठन) को खाकर कृष्णमय हो जाता है। जो इस प्रकार सेवा में नहीं लगता, वह नहीं समझ पाता कि यह सब कैसे होता है, यद्यपि *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में इसी विधि की संस्तुति की गई है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥९॥

अथ—यदि, अतः; **चित्तम्**—मन को; **समाधातुम्**—स्थिर करने में; **न**—नहीं; **शक्नोषि**—समर्थ नहीं हो; **मयि**—मुझ पर; **स्थिरम्**—स्थिर भाव से; **अभ्यास-योगेन**—भक्ति के अभ्यास से; **ततः**—तब; **माम्**—मुझको; **इच्छ**—इच्छा करो; **आप्तुम्**—प्राप्त करने की; **धनम्-जय**—हे सम्पत्ति के विजेता, अर्जुन।

हे अर्जुन, हे धनञ्जय! यदि तुम अपने चित्त को अविचल भाव से मुझ पर स्थिर नहीं कर सकते, तो तुम भक्तियोग के विधि-विधानों का पालन करो। इस प्रकार तुम मुझे प्राप्त करने की चाह उत्पन्न करो।

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्तियोग की दो पृथक्-पृथक् विधियाँ बताई गई हैं। पहली विधि उस व्यक्ति पर लागू होती है, जिसने दिव्य प्रेम द्वारा भगवान् कृष्ण के प्रति वास्तविक आसक्ति उत्पन्न कर ली है। दूसरी विधि उसके लिए है जिसने इस प्रकार से भगवान् कृष्ण के प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न की। इस द्वितीय श्रेणी के लिए नाना प्रकार के विधि-विधान हैं, जिनका पालन करके मनुष्य अन्ततः कृष्ण-आसक्ति अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

भक्तियोग इन्द्रियों का परिष्कार (संस्कार) है। संसार में इस समय सारी इन्द्रियाँ सदा अशुद्ध हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति में लगी हुई हैं। लेकिन भक्तियोग के अभ्यास से ये इन्द्रियाँ शुद्ध की जा सकती हैं, और शुद्ध हो जाने पर वे परमेश्वर के सीधे सम्पर्क में आती हैं। इस संसार में रहते हुए मैं किसी अन्य स्वामी की सेवा में रत हो सकता हूँ, लेकिन मैं सचमुच उसकी प्रेमपूर्ण सेवा नहीं करता। मैं केवल धन पाने के लिए सेवा करता हूँ। और वह स्वामी भी मुझसे प्रेम नहीं करता है, वह मुझसे सेवा कराता है और मुझे धन देता है। अतएव प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन आध्यात्मिक जीवन के लिए मनुष्य को प्रेम की शुद्ध अवस्था तक ऊपर उठना होता है। यह प्रेम अवस्था इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा भक्ति के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है।

यह ईश्वरप्रेम अभी प्रत्येक हृदय में सुप्त अवस्था में है। वहाँ पर यह ईश्वरप्रेम अनेक रूपों में प्रकट होता है, लेकिन भौतिक संगति से दूषित हो जाता है। अतएव उस भौतिक संगति से हृदय को विमल बनाना होता है और उस सुप्त स्वाभाविक कृष्ण-प्रेम को जागृत करना होता है। यही भक्तियोग की पूरी विधि है।

भक्तियोग के विधि-विधानों का अभ्यास करने के लिए मनुष्य को किसी सुविज्ञ गुरु के मार्गदर्शन में कतिपय नियमों का पालन करना होता है—यथा ब्राह्ममुहूर्त में जागना, स्नान करना, मन्दिर में जाना तथा प्रार्थना करना एवं हरे *कृष्ण* कीर्तन करना, फिर अर्चा-विग्रह पर चढ़ाने के लिए फूल चुनना, अर्चा-विग्रह पर भोग चढ़ाने के लिए भोजन बनाना, प्रसाद ग्रहण करना आदि। ऐसे अनेक विधि-विधान हैं, जिनका पालन आवश्यक है। मनुष्य को शुद्ध भक्तों से नियमित रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सुनना चाहिए। इस अभ्यास से कोई भी ईश्वर-प्रेम के स्तर तक उठ सकता है और तब भगवद्धाम तक उसका पहुँचना ध्रुव है। विधि-विधानों के अन्तर्गत गुरु के आदेशानुसार भक्तियोग का यह अभ्यास करके मनुष्य निश्चय ही भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त हो सकेगा।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

अभ्यासे—अभ्यास में; **अपि**—भी; **असमर्थः**—असमर्थ; **असि**—हो; **मत्-कर्म**—मेरे कर्म के प्रति; **परमः**—परायण; **भव**—बनो; **मत्-अर्थम्**—मेरे लिए; **अपि**—भी; **कर्माणि**—कर्म; **कुर्वन्**—करते हुए; **सिद्धिम्**—सिद्धि को; **अवाप्स्यसि**—प्राप्त करोगे।

यदि तुम भक्तियोग के विधि-विधानों का भी अभ्यास नहीं कर सकते, तो मेरे लिए

कर्म करने का प्रयत्न करो, क्योंकि मेरे लिए कर्म करने से तुम पूर्ण अवस्था (सिद्धि) को प्राप्त होगे।

तात्पर्य : यदि कोई गुरु के निर्देशानुसार भक्तियोग के विधि-विधानों का अभ्यास नहीं भी कर पाता, तो भी परमेश्वर के लिए कर्म करके उसे पूर्णावस्था प्रदान कराई जा सकती है। यह कर्म किस प्रकार किया जाय, इसकी व्याख्या ग्यारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक में पहले ही की जा चुकी है। मनुष्य में कृष्णभावनामृत के प्रचार हेतु सहानुभूति होनी चाहिए। ऐसे अनेक भक्त हैं जो कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्य में लगे हैं। उन्हें सहायता की आवश्यकता है। अतः भले ही कोई भक्तियोग के विधि-विधानों का प्रत्यक्ष रूप से अभ्यास न कर सके, उसे ऐसे कार्य में सहायता देने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक प्रकार के प्रयास में भूमि, पूँजी, संगठन तथा श्रम की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार किसी भी व्यापार में रहने के लिए स्थान, उपयोग के लिए कुछ पूँजी, कुछ श्रम तथा विस्तार करने के लिए कुछ संगठन चाहिए, उसी प्रकार कृष्णसेवा के लिए भी इनकी आवश्यकता होती है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि भौतिकवाद में मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए सारा कार्य करता है, लेकिन यही कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए किया जा सकता है। यही दिव्य कार्य है। यदि किसी के पास पर्याप्त धन है, तो वह कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए कोई कार्यालय अथवा मन्दिर निर्मित कराने में सहायता कर सकता है अथवा वह प्रकाशन में सहायता पहुँचा सकता है। कर्म के विविध क्षेत्र हैं और मनुष्य को ऐसे कर्मों में रुचि लेनी चाहिए। यदि कोई अपने कर्मों के फल को नहीं त्याग सकता, तो कम से कम उसका कुछ प्रतिशत कृष्णभावनामृत के प्रचार में तो लगा ही सकता है। इस प्रकार कृष्णभावनामृत की दिशा में स्वेच्छा से सेवा करने से व्यक्ति भगवत्प्रेम की उच्चतर अवस्था को प्राप्त हो सकेगा, जहाँ उसे पूर्णता प्राप्त हो सकेगी।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

अथ—यद्यपि; **एतत्**—यह; **अपि**—भी; **अशक्तः**—असमर्थ; **असि**—हो; **कर्तुम्**—करने में; **मत्**—मेरे प्रति; **योगम्**—भक्ति में; **आश्रितः**—निर्भर; **सर्व-कर्म**—समस्त कर्मों के; **फल**—फल का; **त्यागम्**—त्याग; **ततः**—तब; **कुरु**—करो; **यत-आत्मवान्**—आत्मस्थित।

किन्तु यदि तुम मेरे इस भावनामृत में कर्म करने में असमर्थ हो तो तुम अपने कर्म के समस्त फलों को त्याग कर कर्म करने का तथा आत्म-स्थित होने का प्रयत्न करो।

तात्पर्य : हो सकता है कि कोई व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक या धार्मिक कारणों से या किसी अन्य अवरोधों के कारण कृष्णभावनामृत के कार्यकलापों के प्रति सहानुभूति तक दिखा पाने में अक्षम रहे। यदि वह अपने को प्रत्यक्ष रूप से इन कार्यकलापों के प्रति जोड़ ले तो हो सकता है कि पारिवारिक सदस्य विरोध करें, या अन्य कठिनाइयाँ उठ खड़ी हों। जिस व्यक्ति के साथ ऐसी समस्याएँ लगी हों, उसे यह सलाह दी जाती है कि वह अपने कार्यकलापों के संचित फल को किसी शुभ कार्य में लगा दे। ऐसी विधियाँ

वैदिक नियमों में वर्णित हैं। ऐसे अनेक यज्ञों तथा पुण्य कार्यों अथवा विशेष कार्यों के वर्णन हुए हैं, जिनमें अपने पिछले कार्यों के फलों को प्रयुक्त किया जा सकता है। इससे मनुष्य धीरे-धीरे ज्ञान के स्तर तक उठता है। ऐसा भी पाया गया है कि कृष्णभावनामृत के कार्यकलापों में रुचि न रहने पर भी जब मनुष्य किसी अस्पताल या किसी सामाजिक संस्था को दान देता है, तो वह अपने कार्यकलापों की गाढ़ी कमाई का परित्याग करता है। यहाँ पर इसकी भी संस्तुति की गई है, क्योंकि अपने कार्यकलापों के फल के परित्याग के अभ्यास से मनुष्य क्रमशः अपने मन को स्वच्छ बनाता है, और उस विमल मनःस्थिति में वह कृष्णभावनामृत को समझने में समर्थ होता है। कृष्णभावनामृत किसी अन्य अनुभव पर आश्रित नहीं होता, क्योंकि कृष्णभावनामृत स्वयं मन को विमल बनाने वाला है, किन्तु यदि कृष्णभावनामृत को स्वीकार करने में किसी प्रकार का अवरोध हो, तो मनुष्य को चाहिए कि अपने कर्मफल का परित्याग करने का प्रयत्न करे। ऐसी दशा में समाज सेवा, समुदाय सेवा, राष्ट्रीय सेवा, देश के लिए उत्सर्ग आदि कार्य स्वीकार किये जा सकते हैं, जिससे एक दिन मनुष्य भगवान् की शुद्ध भक्ति को प्राप्त हो सके। *भगवद्गीता* में ही (१८.४६) कहा गया है—यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्—यदि कोई परम कारण के लिए उत्सर्ग करना चाहे, तो भले ही वह यह न जाने कि वह परम कारण कृष्ण हैं, फिर भी वह क्रमशः यज्ञ विधि से समझ जाएगा कि वह परम कारण कृष्ण ही हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

श्रेयः—श्रेष्ठ; **हि**—निश्चय ही; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **अभ्यासात्**—अभ्यास से; **ज्ञानात्**—ज्ञान से; **ध्यानम्**—ध्यान; **विशिष्यते**—विशिष्ट समझा जाता है; **ध्यानात्**—ध्यान से; **कर्म-फल-त्यागः**—समस्त कर्म के फलों का परित्याग; **त्यागात्**—ऐसे त्याग से; **शान्तिः**—शान्ति; **अनन्तरम्**—तत्पश्चात्।

यदि तुम यह अभ्यास नहीं कर सकते, तो ज्ञान के अनुशीलन में लग जाओ। लेकिन ज्ञान से श्रेष्ठ ध्यान है और ध्यान से भी श्रेष्ठ है कर्म फलों का परित्याग क्योंकि ऐसे त्याग से मनुष्य को मनःशान्ति प्राप्त हो सकती है।

तात्पर्य : जैसा कि पिछले श्लोकों में बताया गया है, भक्ति के दो प्रकार हैं—विधि-विधानों से पूर्ण तथा भगवत्प्रेम की आसक्ति से पूर्ण। किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत के नियमों का पालन नहीं कर सकते, उनके लिए ज्ञान का अनुशीलन करना श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान से मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति को समझने में समर्थ होता है। यही ज्ञान क्रमशः ध्यान तक पहुँचाने वाला है, और ध्यान से क्रमशः परमेश्वर को समझा जा सकता है। ऐसी भी विधियाँ हैं जिनसे मनुष्य अपने को परब्रह्म मान बैठता है, और यदि कोई भक्ति करने में असमर्थ है, तो ऐसा ध्यान भी अच्छा है। यदि कोई इस प्रकार से ध्यान नहीं कर सकता, तो वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लिए कतिपय कर्तव्यों का आदेश है, जिसे हम *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय में देखेंगे। लेकिन प्रत्येक दशा में मनुष्य को अपने कर्मफल का त्याग करना होगा—जिसका अर्थ है कर्मफल को किसी अच्छे कार्य में लगाना।

संक्षेपतः, सर्वोच्च लक्ष्य, भगवान् तक पहुँचने की दो विधियाँ हैं—एक विधि है क्रमिक विकास की और दूसरी प्रत्यक्ष विधि। कृष्णभावनामृत में भक्ति प्रत्यक्ष विधि है। अन्य विधि में कर्मों के फल का त्याग करना होता है, तभी मनुष्य ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है। उसके बाद ध्यान की अवस्था तथा फिर परमात्मा के बोध की अवस्था और अन्त में भगवान् की अवस्था आ जाती है। मनुष्य चाहे तो एक एक पग करके आगे बढ़ने की विधि अपना सकता है, या प्रत्यक्ष विधि ग्रहण कर सकता है। लेकिन प्रत्यक्ष विधि हर एक के लिए सम्भव नहीं है। अतः अप्रत्यक्ष विधि भी अच्छी है। लेकिन यहाँ यह समझ लेना होगा कि अर्जुन के लिए अप्रत्यक्ष विधि नहीं सुझाई गई, क्योंकि वह पहले से परमेश्वर के प्रति प्रेमाभक्ति की अवस्था को प्राप्त था। यह तो उन लोगों के लिए है, जो इस अवस्था को प्राप्त नहीं हैं। उनके लिए तो त्याग, ज्ञान, ध्यान तथा परमात्मा एवं ब्रह्म की अनुभूति की क्रमिक विधि ही पालनीय है। लेकिन जहाँ तक *भगवद्गीता* का सम्बन्ध है, उसमें तो प्रत्यक्ष विधि पर ही बल है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष विधि ग्रहण करने तथा भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाने की सलाह दी जाती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१४॥

अद्वेष्टा—ईर्ष्याविहीन; **सर्व-भूतानाम्**—समस्त जीवों के प्रति; **मैत्रः**—मैत्रीभाव वाला; **करुणः**—दयालु; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **निर्ममः**—स्वामित्व की भावना से रहित; **निरहंकारः**—मिथ्या अहंकार से रहित; **सम**—समभाव; **दुःख**—दुख; **सुखः**—तथा सुख में; **क्षमी**—क्षमावान; **सन्तुष्टः**—प्रसन्न,तुष्ट; **सततम्**—निरन्तर; **योगी**—भक्ति में निरत; **यत-आत्मा**—आत्मसंयमी; **दृढ-निश्चयः**—संकल्प सहित; **मयि**—मुझमें; **अर्पित**—संलग्न; **मनः**—मन को; **बुद्धिः**—तथा बुद्धि को; **यः**—जो; **मत्-भक्तः**—मेरा भक्त; **सः**—वह; **मे**—मेरा; **प्रियः**—प्यारा।

जो किसी से द्वेष नहीं करता, लेकिन सभी जीवों का दयालु मित्र है, जो अपने को स्वामी नहीं मानता और मिथ्या अहंकार से मुक्त है, जो सुख-दुख में समभाव रहता है, सहिष्णु है, सदैव आत्मतुष्ट रहता है, आत्मसंयमी है तथा जो निश्चय के साथ मुझमें मन तथा बुद्धि को स्थिर करके भक्ति में लगा रहता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्ति पर पुनः आकर भगवान् इन दोनों श्लोकों में शुद्ध भक्त के दिव्य गुणों का वर्णन कर रहे हैं। शुद्ध भक्त किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता, न ही वह किसी के प्रति ईर्ष्यालु होता है। न वह अपने शत्रु का शत्रु बनता है। वह तो सोचता है "यह व्यक्ति मेरे विगत दुष्कर्मों के कारण मेरा शत्रु बना हुआ है, अतएव विरोध करने की अपेक्षा कष्ट सहना अच्छा है।" *श्रीमद्भागवत* में (१०.१४.८) कहा गया है—*तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्*। जब भी कोई भक्त

मुसीबत में पड़ता है, तो वह सोचता है कि यह भगवान् की मेरे ऊपर कृपा ही है। मुझे अपने विगत दुष्कर्मों के अनुसार इससे कहीं अधिक कष्ट भोगना चाहिए था। यह तो भगवत्कृपा है कि मुझे मिलने वाला पूरा दण्ड नहीं मिल रहा है। भगवत्कृपा से थोड़ा ही दण्ड मिल रहा है। अतएव अनेक कष्टपूर्ण परिस्थितियों में भी वह सदैव शान्त तथा धीर बना रहता है। भक्त सदैव प्रत्येक प्राणी पर, यहाँ तक कि अपने शत्रु पर भी, दयालु होता है। निर्मम का अर्थ यह है कि भक्त शारीरिक कष्टों को प्रधानता नहीं प्रदान करता, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि वह भौतिक शरीर नहीं है। वह अपने को शरीर नहीं मानता है, अतएव वह मिथ्या अहंकार के बोध से मुक्त रहता है, और सुख तथा दुख में समभाव रखता है। वह सहिष्णु होता है और भगवत्कृपा से जो कुछ प्राप्त होता है, उसी से सन्तुष्ट रहता है। वह ऐसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता जो कठिनाई से मिले। अतएव वह सदैव प्रसन्नचित्त रहता है। वह पूर्णयोगी होता है, क्योंकि वह अपने गुरु के आदेशों पर अटल रहता है, और चूँकि उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं, अतः वह दृढ़निश्चय होता है। वह झूठे तर्कों से विचलित नहीं होता, क्योंकि कोई उसे भक्ति के दृढ़ संकल्प से हटा नहीं सकता। वह पूर्णतया अवगत रहता है कि कृष्ण उसके शाश्वत प्रभु हैं, अतएव कोई भी उसे विचलित नहीं कर सकता। इन समस्त गुणों के फलस्वरूप वह अपने मन तथा बुद्धि को पूर्णतया परमेश्वर पर स्थिर करने में समर्थ होता है। भक्ति का ऐसा आदर्श अत्यन्त दुर्लभ है, लेकिन भक्त भक्ति के विधि-विधानों का पालन करते हुए उसी अवस्था में स्थित रहता है और फिर भगवान् कहते हैं कि ऐसा भक्त उन्हें अति प्रिय है, क्योंकि भगवान् उसकी कृष्णभावना से युक्त कार्यकलापों से सदैव प्रसन्न रहते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१५॥

यस्मात्—जिससे; **न**—कभी नहीं; **उद्विजते**—उद्विग्न होते हैं; **लोकः**—लोग; **लोकात्**—लोगों से; **न**—कभी नहीं; **उद्विजते**—विचलित होता है; **च**—भी; **यः**—जो; **हर्ष**—सुख; **अमर्ष**—दुख; **भय**—भय; **उद्वेगैः**—तथा चिन्ता से; **मुक्तः**—मुक्त; **यः**—जो; **सः**—वह; **च**—भी; **मे**—मेरा; **प्रियः**—प्रिय।

जिससे किसी को कष्ट नहीं पहुँचता तथा जो अन्य किसी के द्वारा विचलित नहीं किया जाता, जो सुख-दुख में, भय तथा चिन्ता में समभाव रहता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्त के कुछ अन्य गुणों का वर्णन हुआ है। ऐसे भक्त द्वारा कोई व्यक्ति कष्ट, चिन्ता, भय या असन्तोष को प्राप्त नहीं होता। चूँकि भक्त सबों पर दयालु होता है, अतएव वह ऐसा कार्य नहीं करता, जिससे किसी को चिन्ता हो। साथ ही, यदि अन्य लोग भक्त को चिन्ता में डालना चाहते हैं, तो वह विचलित नहीं होता। यह भगवत्कृपा ही है कि वह किसी बाह्य उपद्रव से क्षुब्ध नहीं होता। वास्तव में सदैव कृष्णभावनामृत में लीन रहने तथा भक्ति में रत रहने के कारण ही ऐसे भौतिक उपद्रव भक्त को विचलित नहीं कर पाते। सामान्य रूप से विषयी व्यक्ति अपने शरीर तथा

इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी वस्तु को पाकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, लेकिन जब वह देखता है कि अन्यों के पास इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसी वस्तु है, जो उसके पास नहीं है, तो वह दुख तथा ईर्ष्या से पूर्ण हो जाता है। जब वह अपने शत्रु से बदले की शंका करता है, तो वह भयभीत रहता है, और जब वह कुछ भी करने में सफल नहीं होता, तो निराश हो जाता है। ऐसा भक्त, जो इन समस्त उपद्रवों से परे होता है, कृष्ण को अत्यन्त प्रिय होता है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

अनपेक्षः—इच्छारहित; **शुचिः**—शुद्ध; **दक्षः**—पटु; **उदासीनः**—चिन्ता से मुक्त; **गत-व्यथः**—सारे कष्टों से मुक्त; **सर्व-आरम्भ**—समस्त प्रयत्नों का; **परित्यागी**—परित्याग करने वाला; **यः**—जो; **मत्-भक्तः**—मेरा भक्त; **सः**—वह; **मे**—मेरा; **प्रियः**—अतिशय प्रिय।

मेरा ऐसा भक्त जो सामान्य कार्य-कलापों पर आश्रित नहीं है, जो शुद्ध है, दक्ष है, चिन्तारहित है, समस्त कष्टों से रहित है और किसी फल के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता, मुझे अतिशय प्रिय है।

तात्पर्य : भक्त को धन दिया जा सकता है, किन्तु उसे धन अर्जित करने के लिए संघर्ष नहीं करना चाहिए। भगवत्कृपा से यदि उसे स्वयं धन की प्राप्ति हो, तो वह उद्विग्न नहीं होता। स्वाभाविक है कि भक्त दिनभर में दो बार स्नान करता है और भक्ति के लिए प्रातःकाल जल्दी उठता है। इस प्रकार वह बाहर तथा भीतर से स्वच्छ रहता है। भक्त सदैव दक्ष होता है, क्योंकि वह जीवन के समस्त कार्यकलापों के सार को जानता है और प्रामाणिक शास्त्रों में दृढ़विश्वास रखता है। भक्त कभी किसी दल में भाग नहीं लेता, अतएव वह चिन्तामुक्त रहता है। समस्त उपाधियों से मुक्त होने के कारण कभी व्यथित नहीं होता, वह जानता है कि उसका शरीर एक उपाधि है, अतएव शारीरिक कष्टों के आने पर वह मुक्त रहता है। शुद्ध भक्त कभी भी ऐसी किसी वस्तु के लिए प्रयास नहीं करता, जो भक्ति के नियमों के प्रतिकूल हो। उदाहरणार्थ, किसी विशाल भवन को बनवाने में काफी शक्ति लगती है, अतएव वह कभी ऐसे कार्य में हाथ नहीं लगाता, जिससे उसकी भक्ति में प्रगति न होती हो। वह भगवान् के लिए मन्दिर का निर्माण करा सकता है और उसके लिए वह सभी प्रकार की चिन्ताएँ उठा सकता है, लेकिन वह अपने परिवार वालों के लिए बड़ा सा मकान नहीं बनाता।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥

यः—जो; **न**—कभी नहीं; **हृष्यति**—हर्षित होता है; **न**—कभी नहीं; **द्वेष्टि**—शोक करता है; **न**—कभी नहीं; **शोचति**—पछतावा करता है; **न**—कभी नहीं; **काङ्क्षति**—इच्छा करता है; **शुभ**—शुभ; **अशुभ**—तथा अशुभ का; **परित्यागी**—त्याग करने वाला; **भक्ति-मान्**—भक्त; **यः**—जो; **सः**—वह है; **मे**—मेरा; **प्रियः**—प्रिय।

जो न कभी हर्षित होता है, न शोक करता है, जो न तो पछताता है, न इच्छा करता है, तथा जो शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार की वस्तुओं का परित्याग कर देता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त भौतिक लाभ से न तो हर्षित होता है और न हानि से दुखी होता है, वह पुत्र या शिष्य की प्राप्ति के लिए न तो उत्सुक रहता है, न ही उनके न मिलने पर दुखी होता है। वह अपनी किसी प्रिय वस्तु के खो जाने पर उसके लिए पछताता नहीं। इसी प्रकार यदि उसे अभीप्सित की प्राप्ति नहीं हो पाती तो वह दुखी नहीं होता। वह समस्त प्रकार के शुभ, अशुभ तथा पापकर्मों से सदैव परे रहता है। वह परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए बड़ी से बड़ी विपत्ति सहने को तैयार रहता है। भक्ति के पालन में उसके लिए कुछ भी बाधक नहीं बनता। ऐसा भक्त कृष्ण को अतिशय प्रिय होता है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

समः—समान; **शत्रौ**—शत्रु में; **च**—तथा; **मित्रे**—मित्र में; **च**—भी; **तथा**—उसी प्रकार; **मान**—सम्मान; **अपमानयोः**—तथा अपमान में; **शीत**—जाड़ा; **उष्ण**—गर्मी; **सुख**—सुख; **दुःखेषु**—तथा दुख में; **समः**—समभाव; **सङ्ग-विवर्जितः**—समस्त संगति से मुक्त; **तुल्य**—समान; **निन्दा**—अपयश; **स्तुतिः**—तथा यश में; **मौनी**—मौन; **सन्तुष्टः**—सन्तुष्ट; **येन केनचित्**—जिस किसी तरह; **अनिकेतः**—बिना घर-बार के; **स्थिरः**—दृढ़; **मतिः**—संकल्प; **भक्तिमान्**—भक्ति में रत; **मे**—मेरा; **प्रियः**—प्रिय; **नरः**—मनुष्य।

जो मित्रों तथा शत्रुओं के लिए समान है, जो मान तथा अपमान, शीत तथा गर्मी, सुख तथा दुख, यश तथा अपयश में समभाव रखता है, जो दूषित संगति से सदैव मुक्त रहता है, जो सदैव मौन और किसी भी वस्तु से संतुष्ट रहता है, जो किसी प्रकार के घर-बार की परवाह नहीं करता, जो ज्ञान में दृढ़ है और जो भक्ति में संलग्न है—ऐसा पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य : भक्त सदैव कुसंगति से दूर रहता है। मानव समाज का यह स्वभाव है कि कभी किसी की प्रशंसा की जाती है, तो कभी उसकी निन्दा की जाती है। लेकिन भक्त कृत्रिम यश तथा अपयश, दुख या सुख से ऊपर उठा हुआ होता है। वह अत्यन्त धैर्यवान् होता है। वह कृष्णकथा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलता। अतः उसे मौनी कहा जाता है। मौनी का अर्थ यह नहीं कि वह बोले नहीं, अपितु यह कि वह अनर्गल आलाप न करे। मनुष्य को आवश्यकता पर बोलना चाहिए और भक्त के लिए सर्वाधिक अनिवार्य वाणी तो भगवान् के लिए बोलना है। भक्त समस्त परिस्थितियों में सुखी रहता है। कभी उसे स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं, किन्तु वह सन्तुष्ट रहता है। वह आवास की सुविधा की चिन्ता नहीं करता। वह कभी पेड़ के नीचे रह सकता है, तो कभी अत्यन्त

उच्च प्रासाद में, किन्तु वह इनमें से किसी के प्रति आसक्त नहीं रहता। वह स्थिर कहलाता है, क्योंकि वह अपने संकल्प तथा ज्ञान में दृढ़ होता है। भले ही भक्त के लक्षणों की कुछ पुनरावृत्ति हुई हो, लेकिन यह इस बात पर बल देने के लिए है कि भक्त को ये सारे गुण अर्जित करने चाहिए। सद्गुणों के बिना कोई शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः*—जो भक्त नहीं है, उसमें सद्गुण नहीं होता। जो भक्त कहलाना चाहता है, उसे सद्गुणों का विकास करना चाहिए। यह अवश्य है कि उसे इन गुणों के लिए अलग से बाह्य प्रयास नहीं करना पड़ता, अपितु कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में संलग्न रहने के कारण उसमें ये गुण स्वतः ही विकसित हो जाते हैं।

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

ये—जो; **तु**—लेकिन; **धर्म**—धर्म रूपी; **अमृतम्**—अमृत को; **इदम्**—इस; **यथा**—जिस तरह से, जैसा; **उक्तम्**—कहा गया; **पर्युपासते**—पूर्णतया तत्पर रहते हैं; **श्रद्दधानाः**—श्रद्धा के साथ; **मत्-परमाः**—मुझ परमेश्वर को सब कुछ मानते हुए; **भक्ताः**—भक्तजन; **ते**—वे; **अतीव**—अत्यधिक; **मे**—मेरे; **प्रियाः**—प्रिय।

जो इस भक्ति के अमर पथ का अनुसरण करते हैं, और जो मुझे ही अपना चरम लक्ष्य बना कर श्रद्धासहित पूर्णरूपेण संलग्न रहते हैं, वे भक्त मुझे अत्यधिक प्रिय हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय में दूसरे श्लोक से अन्तिम श्लोक तक—*मय्यावेश्य मनो ये माम्* (मुझ पर मन को स्थिर करके) से लेकर *ये तु धर्मामृतम्* इदम् (नित्य सेवा इस धर्म को) तक—भगवान् ने अपने पास तक पहुँचने की दिव्य सेवा की विधियों की व्याख्या की है। ऐसी विधियाँ उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं, और इनमें लगे हुए व्यक्तियों को वे स्वीकार कर लेते हैं। अर्जुन ने यह प्रश्न उठाया था कि जो निराकार ब्रह्म के पथ में लगा है, वह श्रेष्ठ है या जो साकार भगवान् की सेवा में। भगवान् ने इसका बहुत स्पष्ट उत्तर दिया कि आत्म-साक्षात्कार की समस्त विधियों में भगवान् की भक्ति निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ है। दूसरे शब्दों में, इस अध्याय में यह निर्णय दिया गया है कि सुसंगति से मनुष्य में भक्ति के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, जिससे वह प्रामाणिक गुरु बनाता है, और तब वह उससे श्रद्धा, आसक्ति तथा भक्ति के साथ सुनता है, कीर्तन करता है और भक्ति के विधि-विधानों का पालन करने लगता है। इस तरह वह भगवान् की दिव्य सेवा में तत्पर हो जाता है। इस अध्याय में इस मार्ग की संस्तुति की गई है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भगवत्प्राप्ति के लिए भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार का परम मार्ग है। इस अध्याय में परम सत्य की जो निराकार धारणा वर्णित है, उसकी संस्तुति उस समय तक के लिए की गई है, जब तक मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने आपको समर्पित नहीं कर देता है। दूसरे शब्दों में, जब तक उसे शुद्ध भक्त की संगति करने का अवसर प्राप्त नहीं होता तभी तक निराकार की धारणा लाभप्रद हो सकती है। परम सत्य की निराकार धारणा में मनुष्य कर्मफल के बिना कर्म करता है और आत्मा तथा पदार्थ का

ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्यान करता है। यह तभी तक आवश्यक है, जब तक शुद्ध भक्त की संगति प्राप्त न हो। सौभाग्यवश यदि कोई शुद्ध भक्ति में सीधे कृष्णभावनामृत में लगना चाहता है तो उसे आत्म-साक्षात्कार के इतने सोपान पार नहीं करने होते। *भगवद्गीता* के बीच के छः अध्यायों में जिस प्रकार भक्ति का वर्णन हुआ है, वह अत्यन्त हृदयग्राही है। किसी को जीवन-निर्वाह के लिए वस्तुओं की चिन्ता नहीं करनी होती, क्योंकि भगवत्कृपा से सारी वस्तुएँ स्वतः सुलभ होती हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के बारहवें अध्याय "भक्तियोग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय तेरह

प्रकृति, पुरुष तथा चेतना

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥१॥

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥२॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **प्रकृतिम्**—प्रकृति; **पुरुषम्**—भोक्ता; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **क्षेत्रम्**—क्षेत्र, खेत; **क्षेत्र-ज्ञम्**—खेत को जानने वाला; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **एतत्**—यह सारा; **वेदितुम्**—जानने के लिए; **इच्छामि**—इच्छुक हूँ; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **ज्ञेयम्**—ज्ञान का लक्ष्य; **च**—भी; **केशव**—हे कृष्ण; **श्रीभगवान् उवाच**—भगवान् ने कहा; **इदम्**—यह; **शरीरम्**—शरीर; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **क्षेत्रम्**—खेत; **इति**—इस प्रकार; **अभिधीयते**—कहलाता है; **एतत्**—यह; **यः**—जो; **वेत्ति**—जानता है; **तम्**—उसको; **प्राहुः**—कहा जाता है; **क्षेत्र-ज्ञः**—खेत को जानने वाला; **इति**—इस प्रकार; **तत्-विदः**—इसे जानने वालों के द्वारा।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! मैं प्रकृति एवं पुरुष (भोक्ता), क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान

एवं ज्ञेय के विषय में जानने का इच्छुक हूँ।

श्री भगवान् ने कहा—हे कुन्तीपुत्र! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इस क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ है।

तात्पर्य : अर्जुन *प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान* तथा *ज्ञेय* के विषय में जानने का इच्छुक था। जब उसने इन सबों के विषय में पूछा, तो कृष्ण ने कहा कि यह शरीर क्षेत्र कहलाता है, और इस शरीर को जानने वाला *क्षेत्रज्ञ* है। यह शरीर बद्धजीव के लिए कर्म-क्षेत्र है। बद्धजीव इस संसार में बँधा हुआ है, और वह भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने की क्षमता के अनुसार उसे कर्म-क्षेत्र प्राप्त होता है। यह कर्म-क्षेत्र शरीर है। और यह शरीर क्या है? शरीर इन्द्रियों से बना हुआ है। बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति चाहता है, और इन्द्रियतृप्ति को भोगने की क्षमता के अनुसार ही उसे शरीर या कर्म-क्षेत्र प्रदान किया जाता है। इसीलिए बद्धजीव के लिए यह शरीर *क्षेत्र* अथवा कर्मक्षेत्र कहलाता है। अब, जो व्यक्ति अपने आपको शरीर मानता है, वह *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है। क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और शरीर के ज्ञाता (देही) का अन्तर समझ पाना कठिन नहीं है। कोई भी व्यक्ति यह सोच सकता है कि बाल्यकाल से वृद्धावस्था तक उसमें अनेक परिवर्तन होते रहते हैं, फिर भी वह व्यक्ति वही रहता है। इस प्रकार कर्म-क्षेत्र के ज्ञाता तथा वास्तविक कर्म-क्षेत्र में अन्तर है। एक बद्धजीव यह जान सकता है कि वह अपने शरीर से भिन्न है। प्रारम्भ में ही बताया गया है कि *देहिनोऽस्मिन्*—जीव शरीर के भीतर है, और यह शरीर बालक से किशोर, किशोर से तरुण तथा तरुण से वृद्ध के रूप में बदलता जाता है, और शरीरधारी जानता है कि शरीर परिवर्तित हो रहा है। स्वामी स्पष्टतः *क्षेत्रज्ञ* है। कभी कभी हम सोचते हैं "मैं सुखी हूँ," "मैं पुरुष हूँ," "मैं स्त्री हूँ," "मैं कुत्ता हूँ, "मैं बिल्ली हूँ।" ये ज्ञाता की शारीरिक उपाधियाँ हैं, लेकिन ज्ञाता शरीर से भिन्न होता है। भले ही हम तरह-तरह की वस्तुएँ प्रयोग में लाएँ—जैसे कपड़े इत्यादि, लेकिन हम जानते हैं कि हम इन वस्तुओं से भिन्न हैं। इसी प्रकार, थोड़ा विचार करने पर हम यह भी जानते हैं कि हम शरीर से भिन्न हैं। मैं, तुम या अन्य कोई, जिसने शरीर धारण कर रखा है, *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है—अर्थात् वह कर्म-क्षेत्र का ज्ञाता है और यह शरीर *क्षेत्र* है—साक्षात् कर्म-क्षेत्र है।

भगवद्गीता के प्रथम छह अध्यायों में शरीर के ज्ञाता (जीव), तथा जिस स्थिति में वह भगवान् को समझ सकता है, उसका वर्णन हुआ है। बीच के छह अध्यायों में भगवान् तथा भगवान् के साथ जीवात्मा के सम्बन्ध एवं भक्ति के प्रसंग में परमात्मा का वर्णन है। इन अध्यायों में भगवान् की श्रेष्ठता तथा जीव की अधीन अवस्था की निश्चित रूप से परिभाषा की गई है। जीवात्माएँ सभी प्रकार से अधीन हैं, और अपनी विस्मृति के कारण वे कष्ट उठा रही हैं। जब पुण्य कर्मों द्वारा उन्हें प्रकाश मिलता है, तो वे विभिन्न परिस्थितियों में—यथा आर्त, धनहीन, जिज्ञासु तथा ज्ञान-पिपासु के रूप में भगवान् के पास पहुँचती हैं, इसका भी वर्णन हुआ है। अब तेरहवें अध्याय से आगे इसकी व्याख्या हुई है कि किस प्रकार जीवात्मा प्रकृति के सम्पर्क में आता है, और किस प्रकार कर्म,

ज्ञान तथा भक्ति के विभिन्न साधनों के द्वारा परमेश्वर उसका उद्धार करते हैं। यद्यपि जीवात्मा भौतिक शरीर से सर्वथा भिन्न है, लेकिन वह किस तरह उससे सम्बद्ध हो जाता है, इसकी भी व्याख्या की गई है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ ३॥

क्षेत्र-ज्ञम्—क्षेत्र का ज्ञाता; **च**—भी; **अपि**—निश्चय ही; **माम्**—मुझको; **विद्धि**—जानो; **सर्व**—समस्त; **क्षेत्रेषु**—शरीर रूपी क्षेत्रों में; **भारत**—हे भरत के पुत्र; **क्षेत्र**—कर्म-क्षेत्र (शरीर); **क्षेत्र-ज्ञयोः**—तथा क्षेत्र के ज्ञाता का; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **मतम्**—अभिमत; **मम**—मेरा।

हे भरतवंशी! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि मैं भी समस्त शरीरों में ज्ञाता भी हूँ और इस शरीर तथा इसके ज्ञाता को जान लेना ज्ञान कहलाता है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : शरीर, शरीर के ज्ञाता, आत्मा तथा परमात्मा विषयक व्याख्या के दौरान हमें तीन विभिन्न विषय मिलेंगे—भगवान्, जीव तथा पदार्थ। प्रत्येक कर्म-क्षेत्र में, प्रत्येक शरीर में दो आत्माएँ होती हैं—आत्मा तथा परमात्मा। चूँकि परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण का स्वांश है, अतः कृष्ण कहते हैं "मैं भी ज्ञाता हूँ, लेकिन मैं शरीर का व्यष्टि ज्ञाता नहीं हूँ। मैं परम ज्ञाता हूँ। मैं शरीर में परमात्मा के रूप में विद्यमान रहता हूँ।"

जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का अध्ययन *भगवद्गीता* के माध्यम से सूक्ष्मता से करता है, उसे यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

भगवान् कहते हैं, "मैं प्रत्येक शरीर के कर्मक्षेत्र का ज्ञाता हूँ।" व्यक्ति भले ही अपने शरीर का ज्ञाता हो, किन्तु उसे अन्य शरीरों का ज्ञान नहीं होता। समस्त शरीरों में परमात्मा रूप में विद्यमान भगवान् समस्त शरीरों के विषय में जानते हैं। वे जीवन की विविध योनियों के सभी शरीरों को जानने वाले हैं। एक नागरिक अपने भूमि-खण्ड के विषय में सब कुछ जानता है, लेकिन राजा को न केवल अपने महल का, अपितु प्रत्येक नागरिक की भू-सम्पत्ति का, ज्ञान रहता है। इसी प्रकार कोई भले ही अपने शरीर का स्वामी हो, लेकिन परमेश्वर समस्त शरीरों के अधिपति हैं। राजा अपने साम्राज्य का मूल अधिपति होता है और नागरिक गौण अधिपति। इसी प्रकार परमेश्वर समस्त शरीरों के परम अधिपति हैं।

यह शरीर इन्द्रियों से युक्त है। परमेश्वर हृषीकेश हैं जिसका अर्थ है "इन्द्रियों के नियामक"। वे इन्द्रियों के आदि नियामक हैं, जिस प्रकार राजा अपने राज्य की समस्त गतिविधियों का आदि नियामक होता है, नागरिक तो गौण नियामक होते हैं। भगवान् का कथन है, "मैं ज्ञाता भी हूँ।" इसका अर्थ है कि वे परम ज्ञाता हैं, जीवात्मा केवल अपने विशिष्ट शरीर को ही जानता है। वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार का वर्णन हुआ है—

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥

यह शरीर *क्षेत्र* कहलाता है, और इस शरीर के भीतर इसके स्वामी तथा साथ ही परमेश्वर का वास है, जो शरीर तथा शरीर के स्वामी दोनों को जानने वाला है। इसलिए

उन्हें समस्त क्षेत्रों का ज्ञाता कहा जाता है। कर्म क्षेत्र, कर्म के ज्ञाता तथा समस्त कर्मों के परम ज्ञाता का अन्तर आगे बतलाया जा रहा है। वैदिक ग्रन्थों में शरीर, आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप की सम्यक जानकारी *ज्ञान* नाम से अभिहित की जाती है। ऐसा कृष्ण का मत है। आत्मा तथा परमात्मा को एक मानते हुए भी पृथक्-पृथक् समझना *ज्ञान* है। जो कर्मक्षेत्र तथा कर्म के ज्ञाता को नहीं समझता, उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता। मनुष्य को *प्रकृति*, *पुरुष* (प्रकृति का भोक्ता) तथा *ईश्वर* (वह ज्ञाता जो प्रकृति एवं व्यष्टि आत्मा का नियामक है) की स्थिति समझनी होती है। उसे इन तीनों के विभिन्न रूपों में किसी प्रकार का भ्रम पैदा नहीं करना चाहिए। मनुष्य को चित्रकार, चित्र तथा तूलिका में भ्रम नहीं करना चाहिए। यह भौतिक जगत्, जो कर्मक्षेत्र के रूप में है, प्रकृति है और इस प्रकृति का भोक्ता जीव है, और इन दोनों के ऊपर परम नियामक भगवान् हैं। वैदिक भाषा में इसे इस प्रकार कहा गया है (श्वेताश्वतर उपनिषद १.१२)—*भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा। सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्*। ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं—*प्रकृति* कर्मक्षेत्र के रूप में ब्रह्म है, तथा *जीव* भी ब्रह्म है जो भौतिक प्रकृति को अपने नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न करता है, और इन दोनों का नियामक भी ब्रह्म है। लेकिन वास्तविक नियामक वही है।

इस अध्याय में बताया जाएगा कि इन दोनों ज्ञाताओं में से एक अच्युत है, तो दूसरा च्युत। एक श्रेष्ठ है, तो दूसरा अधीन है। जो व्यक्ति क्षेत्र के इन दोनों ज्ञाताओं को एक मान लेता है, वह भगवान् के शब्दों का खण्डन करता है, क्योंकि उनका कथन है "मैं भी कर्मक्षेत्र का ज्ञाता हूँ"। जो व्यक्ति रस्सी को सर्प जान लेता है वह ज्ञाता नहीं है। शरीर कई प्रकार के हैं और इनके स्वामी भी भिन्न-भिन्न हैं। चूँकि प्रत्येक जीव की अपनी निजी सत्ता है, जिससे वह प्रकृति पर प्रभुता की सामर्थ्य रखता है, अतएव शरीर विभिन्न होते हैं। लेकिन भगवान् उन सबमें परम नियन्ता के रूप में विद्यमान रहते हैं। यहाँ पर *च* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह समस्त शरीरों का द्योतक है। यह श्रील बलदेव विद्याभूषण का मत है। आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक शरीर में कृष्ण परमात्मा के रूप में रहते हैं, और यहाँ पर कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परमात्मा कर्मक्षेत्र तथा विशिष्ट भोक्ता दोनों का नियामक है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ४॥

तत्—वह; **क्षेत्रम्**—कर्मक्षेत्र; **यत्**—जो; **च**—भी; **यादृक्**—जैसा है; **च**—भी; **यत्**—जो; **विकारि**—परिवर्तन; **यतः**—जिससे; **च**—भी; **यत्**—जो; **सः**—वह; **च**—भी; **यः**—जो; **यत्**—जो; **प्रभावः**—प्रभाव; **च**—भी; **तत्**—उस; **समासेन**—संक्षेप में; **मे**—मुझसे; **शृणु**—समझो, सुनो।

अब तुम मुझसे यह सब संक्षेप में सुनो कि कर्मक्षेत्र क्या है, यह किस प्रकार बना है, इसमें क्या परिवर्तन होते हैं, यह कहाँ से उत्पन्न होता है, इस कर्मक्षेत्र को जानने वाला कौन है और उसके क्या प्रभाव हैं।

तात्पर्य : भगवान् कर्मक्षेत्र (क्षेत्र) तथा कर्मक्षेत्र के ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) की स्वाभाविक स्थितियों

का वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य को यह जानना होता है कि यह शरीर किस प्रकार बना हुआ है, यह शरीर किन पदार्थों से बना है, यह किसके नियन्त्रण में कार्यशील है, इसमें किस प्रकार परिवर्तन होते हैं, ये परिवर्तन कहाँ से आते हैं, वे कारण कौन से हैं, आत्मा का चरम लक्ष्य क्या है, तथा आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा, उनके विभिन्न प्रभावों, उनकी शक्तियों आदि के अन्तर को भी जानना चाहिए। यदि वह भगवान् द्वारा दिये गये वर्णन के आधार पर *भगवद्गीता* समझ ले, तो ये सारी बातें स्पष्ट हो जाएँगी। लेकिन उसे ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक शरीर में वास करने वाले परमात्मा को *जीव* का स्वरूप न मान बैठे। ऐसा तो सक्षम पुरुष तथा अक्षम पुरुष को एकसमान बताने जैसा है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥

ऋषिभिः—बुद्धिमान ऋषियों द्वारा; **बहुधा**—अनेक प्रकार से; **गीतम्**—वर्णित; **छन्दोभिः**—वैदिक मन्त्रों द्वारा; **विविधैः**—नाना प्रकार के; **पृथक्**—भिन्न-भिन्न; **ब्रह्म-सूत्र**—वेदान्त के; **पदैः**—नीतिवचनों द्वारा; **च**—भी; **एव**—निश्चित रूप से; **हेतु-मद्भिः**—कार्य-कारण से; **विनिश्चितैः**—निश्चित।

विभिन्न वैदिक ग्रंथों में विभिन्न ऋषियों ने कार्यकलापों के क्षेत्र तथा उन कार्यकलापों के ज्ञाता के ज्ञान का वर्णन किया है। इसे विशेष रूप से वेदान्त सूत्र में कार्य-कारण के समस्त तर्क समेत प्रस्तुत किया गया है।

तात्पर्य : इस ज्ञान की व्याख्या करने में भगवान् कृष्ण सर्वोच्च प्रमाण हैं। फिर भी विद्वान तथा प्रामाणिक लोग सदैव पूर्ववर्ती आचार्यों का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण आत्मा तथा परमात्मा की द्वैतता तथा अद्वैतता सम्बन्धी इस अतीव विवादपूर्ण विषय की व्याख्या *वेदान्त* नामक शास्त्र का उल्लेख करते हुए कर रहे हैं, जिसे प्रमाण माना जाता है। सर्वप्रथम वे कहते हैं "यह विभिन्न ऋषियों के मतानुसार है।" जहाँ तक ऋषियों का सम्बन्ध है, श्रीकृष्ण के अतिरिक्त व्यासदेव (जो *वेदान्त सूत्र* के रचयिता हैं) महान ऋषि हैं और *वेदान्त सूत्र* में द्वैत की भलीभाँति व्याख्या हुई है। व्यासदेव के पिता पराशर भी महर्षि हैं और उन्होंने धर्म सम्बन्धी अपने ग्रंथों में लिखा है—*अहम् त्वं च तथान्ये*—"तुम, मैं तथा अन्य सारे जीव अर्थात् हम सभी दिव्य हैं, भले ही हमारे शरीर भौतिक हों। हम अपने अपने कर्मों के कारण प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर पतित हो गये हैं। फलतः कुछ लोग उच्चतर धरातल पर हैं और कुछ निम्नतर धरातल पर हैं। ये उच्चतर तथा निम्नतर धरातल अज्ञान के कारण हैं, और अनन्त जीवों के रूप में प्रकट हो रहे हैं। किन्तु परमात्मा, जो अच्युत है, तीनों गुणों से अदूषित है, और दिव्य है।" इसी प्रकार मूल *वेदों* में, विशेषतया *कठोपनिषद्* में आत्मा, परमात्मा तथा शरीर का अन्तर बताया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक महर्षियों ने इसकी व्याख्या की है, जिनमें पराशर प्रमुख माने जाते हैं।

छन्दोभिः शब्द विभिन्न वैदिक ग्रंथों का सूचक है। उदाहरणार्थ, *तैत्तिरीय उपनिषद्* जो *यजुर्वेद* की एक शाखा है, प्रकृति, जीव तथा भगवान् के विषय में वर्णन करती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है *क्षेत्र* का अर्थ कर्मक्षेत्र है। *क्षेत्रज्ञ* की दो कोटियाँ हैं—जीवात्मा तथा परम पुरुष। जैसा कि *तैत्तिरीय उपनिषद्* में (२.९) कहा गया है—*ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा*। भगवान् की शक्ति का प्राकट्य *अन्नमय* रूप में होता है, जिसका अर्थ है—अस्तित्व के लिए भोजन (अन्न) पर निर्भरता। यह ब्रह्म की भौतिकतावादी अनुभूति है। अन्न में परम सत्य की अनुभूति करने के पश्चात् फिर *प्राणमय* रूप में मनुष्य सजीव लक्षणों या जीवन रूपों में परम सत्य की अनुभूति करता है। *ज्ञानमय* रूप में यह अनुभूति सजीव लक्षणों से आगे बढ़कर चिन्तन, अनुभव तथा आकांक्षा तक पहुँचती है। तब ब्रह्म की उच्चतर अनुभूति होती है, जिसे विज्ञानमय रूप कहते हैं, जिसमें जीव के मन तथा जीवन के लक्षणों को जीव से भिन्न समझा जाता है। इसके पश्चात् परम अवस्था आती है, जो आनन्दमय है, अर्थात् *सर्व-आनन्दमय* प्रकृति की अनुभूति है। इस प्रकार से ब्रह्म अनुभूति की पाँच अवस्थाएँ हैं, जिन्हें *ब्रह्म पुच्छं* कहा जाता है। इनमें से प्रथम तीन—*अन्नमय, प्राणमय* तथा *ज्ञानमय*—अवस्थाएँ जीवों के कार्यकलापों के क्षेत्रों से सम्बन्धित होती हैं। परमेश्वर इन कार्यकलापों के क्षेत्रों से परे है, और *आनन्दमय* है। वेदान्त सूत्र भी परमेश्वर को *आनन्दमयोऽभ्यासात्* कहकर पुकारता है। भगवान् स्वभाव से *आनन्दमय* हैं। अपने दिव्य आनन्द को भोगने के लिए वे *विज्ञानमय, प्राणमय, ज्ञानमय,* तथा *अन्नमय* रूपों में विस्तार करते हैं। कार्यकलापों के क्षेत्र में जीव भोक्ता (क्षेत्रज्ञ) माना जाता है, किन्तु *आनन्दमय* उससे भिन्न होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि जीव *आनन्दमय* का अनुगमन करने में सुख मानता है, तो वह पूर्ण बन जाता है। क्षेत्र के ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) रूप में परमेश्वर की और उसके अधीन ज्ञाता के रूप में जीव की तथा कार्यकलापों के क्षेत्र की प्रकृति का यह वास्तविक ज्ञान है। *वेदान्तसूत्र* या *ब्रह्मसूत्र* में इस सत्य की गवेषणा करनी होगी।

यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि *ब्रह्मसूत्र* के नीतिवचन कार्य-कारण के अनुसार सुन्दर रूप में व्यवस्थित हैं। इनमें से कुछ सूत्र इस प्रकार हैं—*न वियदश्रुतेः* (२.३.२); *नात्मा श्रुतेः* (२.३.१८) तथा *परात्तु तच्छ्रुतेः* (२.३.४०)। प्रथम सूत्र कार्यकलापों के क्षेत्र को सूचित करता है, दूसरा जीव को और तीसरा परमेश्वर को, जो विभिन्न जीवों के आश्रयतत्त्व हैं।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ६॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ७॥

महा-भूतानि—स्थूल तत्त्व; **अहङ्कारः**—मिथ्या अभिमान; **बुद्धिः**—बुद्धि; **अव्यक्तम्**—अप्रकट; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **दश-एकम्**—ग्यारह; **च**—भी; **पञ्च**—पाँच; **च**—भी; **इन्द्रिय-गो-चराः**—इन्द्रियों के विषय; **इच्छा**—इच्छा; **द्वेषः**—घृणा; **सुखम्**—सुख; **दुःखम्**—दुख; **सङ्घातः**—समूह; **चेतना**—जीवन के लक्षण; **धृतिः**—धैर्य; **एतत्**—यह सारा; **क्षेत्रम्**—कर्मों का क्षेत्र; **समासेन**—संक्षेप में; **स-विकारम्**—अन्तःक्रियाओं सहित; **उदाहृतम्**—उदाहरणस्वरूप कहा गया।

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (तीनों गुणों की अप्रकट अवस्था), दसों इन्द्रियाँ तथा मन, पाँच इन्द्रियविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात, जीवन के लक्षण तथा धैर्य—इन सब को संक्षेप में कर्म का क्षेत्र तथा उसकी अन्तःक्रियाएँ (विकार) कहा जाता है।

तात्पर्य : महर्षियों, वैदिक सूक्तों (छान्दस) एवं *वेदान्त-सूत्र* (सूत्रों) के प्रामाणिक कथनों के आधार पर इस संसार के अवयवों को इस प्रकार से समझा जा सकता है। पहले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच महा-भूत हैं। फिर अहंकार, बुद्धि तथा तीनों गुणों की अव्यक्त अवस्था आती है। इसके पश्चात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—नेत्र, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा। फिर पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, पाँव, हाथ, गुदा तथा लिंग—हैं। तब इन इन्द्रियों के ऊपर मन होता है जो भीतर रहने के कारण अन्तःइन्द्रिय कहा जा सकता है। इस प्रकार मन समेत कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। फिर इन इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—गंध, स्वाद, रूप, स्पर्श तथा ध्वनि। इस तरह इन चौबीस तत्त्वों का समूह कार्यक्षेत्र कहलाता है। यदि कोई इन चौबीसों विषयों का विश्लेषण करे तो उसे कार्यक्षेत्र समझ में आ जाएगा। फिर इच्छा, द्वेष, सुख तथा दुख नामक अन्तःक्रियाएँ (विकार) हैं जो स्थूल देह के पाँच महाभूतों की अभिव्यक्तियाँ हैं। चेतना तथा धैर्य द्वारा प्रदर्शित जीवन के लक्षण सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन, अहंकार तथा बुद्धि के प्राकट्य हैं। ये सूक्ष्म तत्त्व भी कर्मक्षेत्र में सम्मिलित रहते हैं।

पंच महाभूत अहंकार की स्थूल अभिव्यक्ति हैं, जो अहंकार की मूल अवस्था को ही प्रदर्शित करती है, जिसे भौतिकवादी बोध या *तामस* बुद्धि कहा जाता है। यह और आगे प्रकृति के तीनों गुणों की अप्रकट अवस्था की सूचक है। प्रकृति के अव्यक्त गुणों को *प्रधान* कहा जाता है।

जो व्यक्ति इन चौबीस तत्त्वों को, उनके विकारों समेत जानना चाहता है, उसे विस्तार से दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में केवल सारांश दिया गया है।

शरीर इन समस्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति है। शरीर में छह प्रकार के परिवर्तन होते हैं—यह उत्पन्न होता है, बढ़ता है, टिकता है, सन्तान उत्पन्न करता है और तब यह क्षीण होता है और अन्त में समाप्त हो जाता है। अतएव क्षेत्र अस्थायी भौतिक वस्तु है लेकिन क्षेत्र का ज्ञाता *क्षेत्रज्ञ* इससे भिन्न रहता है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥१२॥

अमानित्वम्—विनम्रता; **अदम्भित्वम्**—दम्भविहीनता; **अहिंसा**—अहिंसा; **क्षान्तिः**—सहनशीलता, सहिष्णुता; **आर्जवम्**—सरलता; **आचार्य-उपासनम्**—प्रामाणिक गुरु के पास जाना; **शौचम्**—पवित्रता; **स्थैर्यम्**—दृढ़ता; **आत्म-विनिग्रहः**—आत्म संयम; **इन्द्रिय-अर्थेषु**—इन्द्रियों के मामले में; **वैराग्यम्**—वैराग्य; **अनहंकारः**—मिथ्या अभिमान से रहित; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **जन्म**—जन्म; **मृत्यु**—मृत्यु; **जरा**—बुढ़ापा; **व्याधि**—तथा रोग का; **दुःख**—दुख का; **दोष**—बुराई; **अनुदर्शनम्**—देखते हुए; **असक्तिः**—बिना आसक्ति के; **अनभिष्वङ्गः**—बिना संगति के; **पुत्र**—पुत्र; **दार**—स्त्री; **गृह-आदिषु**—घर आदि में; **नित्यम्**—निरन्तर; **च**—भी; **सम-चित्तत्वम्**—समभाव; **इष्ट**—इच्छित; **अनिष्ट**—अवांछित; **उपपत्तिषु**—प्राप्त करके; **मयि**—मुझ में; **च**—भी; **अनन्य-योगेन**—अनन्य भक्ति से; **भक्तिः**—भक्ति; **अव्यभिचारिणी**—बिना व्यवधान के; **विविक्त**—एकान्त; **देश**—स्थानों की; **सेवित्वम्**—आकांक्षा करते हुए; **अरतिः**—अनासक्त भाव से; **जन-संसदि**—सामान्य लोगों को; **अध्यात्म**—आत्मा सम्बन्धी; **ज्ञान**—ज्ञान में; **नित्यत्वम्**—शाश्वतता; **तत्त्वज्ञान**—सत्य के ज्ञान के; **अर्थ**—हेतु; **दर्शनम्**—दर्शनशास्त्र; **एतत्**—यह सारा; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **इति**—इस प्रकार; **प्रोक्तम्**—घोषित; **अज्ञानम्**—अज्ञान; **यत्**—जो; **अतः**—इससे; **अन्यथा**—अन्य, इतर।

विनम्रता, दम्भहीनता, अहिंसा, सहिष्णुता, सरलता, प्रामाणिक गुरु के पास जाना, पवित्रता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियतृप्ति के विषयों का परित्याग, अहंकार का अभाव, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के दोषों की अनुभूति, वैराग्य, सन्तान, स्त्री, घर तथा अन्य वस्तुओं की ममता से मुक्ति, अच्छी तथा बुरी घटनाओं के प्रति समभाव, मेरे प्रति निरन्तर अनन्य भक्ति, एकान्त स्थान में रहने की इच्छा, जन समूह से विलगाव, आत्म-साक्षात्कार की महत्ता को स्वीकारना, तथा परम सत्य की दार्शनिक खोज—इन सबको मैं ज्ञान घोषित करता हूँ और इनके अतिरिक्त जो भी है, वह सब अज्ञान है।

तात्पर्य : कभी-कभी अल्पज्ञ लोग ज्ञान की इस प्रक्रिया को कार्यक्षेत्र की अन्तःक्रिया (विकार) के रूप में मानने की भूल करते हैं। लेकिन वास्तव में यही असली ज्ञान की प्रक्रिया है। यदि कोई इस प्रक्रिया को स्वीकार कर लेता है, तो परम सत्य तक पहुँचने की सम्भावना हो जाती है। यह इसके पूर्व बताये गये चौबीस तत्त्वों का विकार नहीं है। यह वास्तव में इन तत्त्वों के पाश से बाहर निकलने का साधन है। देहधारी आत्मा चौबीस तत्त्वों से बने आवरण रूप शरीर में बन्द रहता है और यहाँ पर ज्ञान की जिस प्रक्रिया का वर्णन है वह इससे बाहर निकलने का साधन है। ज्ञान की प्रक्रिया के सम्पूर्ण वर्णन में से ग्यारहवें श्लोक की प्रथम पंक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—*मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी*— "ज्ञान की प्रक्रिया का अवसान भगवान् की अनन्य भक्ति में होता है।" अतएव यदि कोई भगवान् की दिव्य सेवा को नहीं प्राप्त कर पाता या प्राप्त करने में असमर्थ है, तो शेष उन्नीस बातें व्यर्थ हैं। लेकिन यदि कोई पूर्ण कृष्णभावना से भक्ति

ग्रहण करता है, तो अन्य उन्नीस बातें उसके अन्दर स्वयमेव विकसित हो आती हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (५.१८.१२) कहा गया है—*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः*। जिसने भक्ति की अवस्था प्राप्त कर ली है, उसमें ज्ञान के सारे गुण विकसित हो जाते हैं। जैसा कि आठवें श्लोक में उल्लेख हुआ है, गुरु-ग्रहण करने का सिद्धान्त अनिवार्य है। यहाँ तक कि जो भक्ति स्वीकार करते हैं, उनके लिए भी यह अत्यावश्यक है। आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ तभी होता है, जब प्रामाणिक गुरु ग्रहण किया जाय। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पर स्पष्ट कहते हैं कि ज्ञान की यह प्रक्रिया ही वास्तविक मार्ग है। इससे परे जो भी विचार किया जाता है, व्यर्थ होता है।

यहाँ पर ज्ञान की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है उसका निम्नलिखित प्रकार से विश्लेषण किया जा सकता है। विनम्रता (*अमानित्व*) का अर्थ है कि मनुष्य को, अन्यों द्वारा सम्मान पाने के लिए इच्छुक नहीं रहना चाहिए। हम देहात्मबुद्धि के कारण अन्यों से सम्मान पाने के भूखे रहते हैं, लेकिन पूर्णज्ञान से युक्त व्यक्ति की दृष्टि में, जो यह जानता है कि वह शरीर नहीं है, इस शरीर से सम्बद्ध कोई भी वस्तु, सम्मान या अपमान व्यर्थ होता है। इस भौतिक छल के पीछे-पीछे दौड़ने से कोई लाभ नहीं है। लोग अपने धर्म में प्रसिद्धि चाहते हैं, अतएव यह देखा गया है कि कोई व्यक्ति धर्म के सिद्धान्तों को जाने बिना ही ऐसे समुदाय में सम्मिलित हो जाता है, जो वास्तव में धार्मिक सिद्धान्तों का पालन नहीं करता और इस तरह वह धार्मिक गुरु के रूप में अपना प्रचार करना चाहता है। जहाँ तक आध्यात्मिक ज्ञान में वास्तविक प्रगति की बात है, मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी परीक्षा करे कि वह कहाँ तक उन्नति कर रहा है। वह इन बातों के द्वारा अपनी परीक्षा कर सकता है।

अहिंसा का सामान्य अर्थ वध न करना या शरीर को नष्ट न करना लिया जाता है, लेकिन अहिंसा का वास्तविक अर्थ है, अन्यों को विपत्ति में न डालना। देहात्मबुद्धि के कारण सामान्य लोग अज्ञान द्वारा ग्रस्त रहते हैं और निरन्तर भौतिक कष्ट भोगते रहते हैं। अतएव जब तक कोई लोगों को आध्यात्मिक ज्ञान की ओर ऊपर नहीं उठाता, तब तक वह हिंसा करता रहता होता है। व्यक्ति को लोगों में वास्तविक ज्ञान वितरित करने का भरसक प्रयास करना चाहिए जिससे वे प्रबुद्ध हों और इस भवबन्धन से छूट सकें। यही अहिंसा है।

सहिष्णुता (*क्षान्तिः*) का अर्थ है कि मनुष्य अन्यों द्वारा किये गये अपमान तथा तिरस्कार को सहे। जो आध्यात्मिक ज्ञान की उन्नति करने में लगा रहता है, उसे अन्यों के तिरस्कार तथा अपमान सहने पड़ते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि यह भौतिक स्वभाव है। यहाँ तक कि बालक प्रह्लाद को भी जो पाँच वर्ष के थे और जो आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन में लगे थे संकट का सामना करना पड़ा था, जब उनका पिता उनकी भक्ति का विरोधी बन गया। उनके पिता ने उन्हें मारने के अनेक प्रयत्न किए, किन्तु प्रह्लाद ने सहन कर लिया। अतएव आध्यात्मिक ज्ञान की उन्नति करते हुए अनेक अवरोध आ सकते हैं, लेकिन हमें सहिष्णु बन कर संकल्पपूर्वक प्रगति करते रहना चाहिए।

सरलता (*आर्जवम्*) का अर्थ है कि बिना किसी कूटनीति के मनुष्य इतना सरल

हो कि अपने शत्रु तक से वास्तविक सत्य का उद्घाटन कर सके। जहाँ तक गुरु बनाने का प्रश्न है, (*आचार्योपासनम्*), आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने के लिए यह अत्यावश्यक है, क्योंकि बिना प्रामाणिक गुरु के यह सम्भव नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि विनम्रतापूर्वक गुरु के पास जाये और उसे अपनी समस्त सेवाएँ अर्पित करे, जिससे वह शिष्य को अपना आशीर्वाद दे सके। चूँकि प्रामाणिक गुरु कृष्ण का प्रतिनिधि होता है, अतएव यदि वह शिष्य को आशीर्वाद देता है, तो शिष्य तुरन्त ही प्रगति करने लगता है, भले ही वह विधि-विधानों का पालन न करता रहा हो। अथवा जो बिना किसी स्वार्थ के अपने गुरु की सेवा करता है, उसके लिए सारे यम-नियम सरल बन जाते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए पवित्रता (*शौचम्*) अनिवार्य है। पवित्रता दो प्रकार की होती है—आन्तरिक तथा बाह्य। बाह्य पवित्रता का अर्थ है स्नान करना, लेकिन आन्तरिक पवित्रता के लिए निरन्तर कृष्ण का चिन्तन तथा *हरे कृष्ण* मंत्र का कीर्तन करना होता है। इस विधि से मन में से पूर्व कर्म की संचित धूलि हट जाती है।

दृढ़ता (*स्थैर्यम्*) का अर्थ है कि आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के लिए मनुष्य दृढ़संकल्प हो। ऐसे संकल्प के बिना मनुष्य ठोस प्रगति नहीं कर सकता। आत्मसंयम (*आत्म-विनिग्रहः*) का अर्थ है कि आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर जो भी बाधक हो, उसे स्वीकार न करना। मनुष्य को इसका अभ्यस्त बन कर ऐसी किसी भी वस्तु को त्याग देना चाहिए, जो आध्यात्मिक उन्नति के पथ के प्रतिकूल हो। यह असली वैराग्य है। इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि वे सदैव इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्सुक रहती हैं। अनावश्यक माँगों की पूर्ति नहीं करनी चाहिए। इन्द्रियों की उतनी ही तृप्ति की जानी चाहिए, जिससे आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने में अपने कर्तव्य की पूर्ति होती हो। सबसे महत्त्वपूर्ण, किन्तु वश में न आने वाली इन्द्रिय जीभ है। यदि जीभ पर संयम कर लिया गया तो समझो अन्य सारी इन्द्रियाँ वशीभूत हो गईं। जीभ का कार्य है, स्वाद ग्रहण करना तथा उच्चारण करना। अतएव नियमित रूप से जीभ को कृष्णार्पित भोग के उच्छिष्ट का स्वाद लेने में तथा *हरे कृष्ण* का कीर्तन करने में प्रयुक्त करना चाहिए। जहाँ तक नेत्रों का सम्बन्ध है, उन्हें कृष्ण के सुन्दर रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखने देना चाहिए। इससे नेत्र वश में होंगे। इसी प्रकार कानों को कृष्ण के विषय में श्रवण करने में लगाना चाहिए, और नाक को कृष्णार्पित फूलों को सूँघने में लगाना चाहिए। यह भक्ति की विधि है, और यहाँ यह समझना होगा कि *भगवद्गीता* केवल भक्ति के विज्ञान का प्रतिपादन करती है। भक्ति ही प्रमुख एवं एकमात्र लक्ष्य है। *भगवद्गीता* के बुद्धिहीन भाष्यकार पाठक के ध्यान को अन्य विषयों की ओर मोड़ना चाहते हैं, लेकिन *भगवद्गीता* में भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी विषय नहीं है।

मिथ्या अहंकार का अर्थ है, इस शरीर को आत्मा मानना। जब कोई यह जान जाता है कि वह शरीर नहीं, अपितु आत्मा है तो वह वास्तविक अहंकार को प्राप्त होता है। अहंकार तो रहता ही है। मिथ्या अहंकार की भर्त्सना की जाती है, वास्तविक अहंकार की नहीं। वैदिक साहित्य में (*बृहदारण्यक उपनिषद्* १.४.१०) कहा गया है—*अहं ब्रह्मास्मि*—मैं ब्रह्म हूँ, मैं आत्मा हूँ। "मैं हूँ" ही आत्म भाव है, और यह आत्म-साक्षात्कार

की मुक्त अवस्था में भी पाया जाता है। "मैं हूँ" का भाव ही अहंकार है लेकिन जब "मैं हूँ" भाव को मिथ्या शरीर के लिए प्रयुक्त किया जाता है, तो वह मिथ्या अहंकार होता है। जब इस आत्म भाव (स्वरूप) को वास्तविकता के लिए प्रयुक्त किया जाता है, तो वह वास्तविक अहंकार होता है। ऐसे कुछ दार्शनिक हैं, जो यह कहते है कि हमें अपना अहंकार त्यागना चाहिए। लेकिन हम अपने अहंकार को त्यागें कैसे? क्योंकि अहंकार का अर्थ है स्वरूप। लेकिन हमें मिथ्या देहात्मबुद्धि का त्याग करना ही होगा।

जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि को स्वीकार करने के कष्ट को समझना चाहिए। वैदिक ग्रन्थों में जन्म के अनेक वृत्तान्त हैं। *श्रीमद्भागवत* में जन्म से पूर्व की स्थिति, माता के गर्भ में बालक के निवास, उसके कष्ट आदि का सजीव वर्णन हुआ है। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि जन्म बहुत कष्टपूर्ण है। चूँकि हम यह भूल जाते हैं कि माता के गर्भ में हमें कितना कष्ट मिला है, अतएव हम जन्म तथा मृत्यु की पुनरावृत्ति का कोई हल नहीं निकाल पाते। इसी प्रकार मृत्यु के समय भी सभी प्रकार के कष्ट मिलते हैं, जिनका उल्लेख प्रामाणिक शास्त्रों में हुआ है। इनकी विवेचना की जानी चाहिए। जहाँ तक रोग तथा वृद्धावस्था का प्रश्न है, सबों को इनका व्यावहारिक अनुभव है। कोई भी रोगग्रस्त नहीं होना चाहता, कोई भी बूढ़ा नहीं होना चाहता, लेकिन इनसे बचा नहीं जा सकता। जब तक हम जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों को देखते हुए इस भौतिक जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण नहीं बना पाते, तब तक आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं रह जाता।

जहाँ तक संतान, पत्नी तथा घर से विरक्ति की बात है, इसका अर्थ यह नहीं कि इनके लिए कोई भावना ही न हो। ये सब स्नेह की प्राकृतिक वस्तुएँ हैं। लेकिन जब ये आध्यात्मिक उन्नति में अनुकूल न हों, तो इनके प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए। घर को सुखमय बनाने की सर्वोत्तम विधि कृष्णभावनामृत है। यदि कोई कृष्णभावनामृत से पूर्ण रहे, तो वह अपने घर को अत्यन्त सुखमय बना सकता है, क्योंकि कृष्णभावनामृत की विधि अत्यन्त सरल है। इसमें केवल *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे*—का कीर्तन करना होता है, कृष्णार्पित भोग का उच्छिष्ट ग्रहण करना होता है, *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रन्थों पर विचार-विमर्श करना होता है, और अर्चाविग्रह की पूजा करनी होती है। इन चारों बातों से मनुष्य सुखी होगा। मनुष्य को चाहिए कि अपने परिवार के सदस्यों को ऐसी शिक्षा दें। परिवार के सदस्य प्रतिदिन प्रातः तथा सायंकाल बैठ कर साथ-साथ *हरे कृष्ण* मन्त्र का कीर्तन करें। यदि कोई इन चारों सिद्धान्तों का पालन करते हुए अपने पारिवारिक जीवन को कृष्णभावनामृत विकसित करने में ढाल सके, तो पारिवारिक जीवन को त्याग कर विरक्त जीवन बिताने की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन यदि यह आध्यात्मिक प्रगति के लिए अनुकूल न रहे, तो पारिवारिक जीवन का परित्याग कर देना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के साक्षात्कार करने या उनकी सेवा करने के लिए सर्वस्व न्योछावर कर दे, जिस प्रकार से अर्जुन ने किया था। अर्जुन अपने परिजनों को मारना नहीं चाह रहा था, किन्तु जब वह समझ गया कि ये परिजन कृष्णसाक्षात्कार में बाधक हो रहे हैं, तो उसने कृष्ण के आदेश को स्वीकार किया। वह उनसे लड़ा और उसने उनको मार डाला। इन

सब विषयों में मनुष्य को पारिवारिक जीवन के सुख-दुख से विरक्त रहना चाहिए, क्योंकि इस संसार में कोई कभी भी न तो पूर्ण सुखी रह सकता है, न दुखी।

सुख-दुख भौतिक जीवन को दूषित करने वाले हैं। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें सहना सीखे, जैसा कि *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है। कोई कभी भी सुख-दुख के आने-जाने पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता, अतः मनुष्य को चाहिए कि भौतिकवादी जीवन-शैली से अपने को विलग कर ले और दोनों ही दशाओं में समभाव बनाये रहे। सामान्यतया जब हमें इच्छित वस्तु मिल जाती है, तो हम अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और जब अनिच्छित घटना घटती है, तो हम दुखी होते हैं। लेकिन यदि हम वास्तविक आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त हों, तो ये बातें हमें विचलित नहीं कर पाएँगी। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए हमें अटूट भक्ति का अभ्यास करना होता है। विपथ हुए बिना कृष्णभक्ति का अर्थ होता है भक्ति की नव विधियों—कीर्तन, श्रवण, पूजन आदि में प्रवृत्त होना, जैसा नवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में वर्णन हुआ है। इस विधि का अनुसरण करना चाहिए।

यह स्वाभाविक है कि आध्यात्मिक जीवन-शैली का अभ्यस्त हो जाने पर मनुष्य भौतिकवादी लोगों से मिलना नहीं चाहेगा। इससे उसे हानि पहुँच सकती है। मनुष्य को चाहिए कि वह यह परीक्षा करके देख ले कि वह अवांछित संगति के बिना एकान्तवास करने में कहाँ तक सक्षम है। यह स्वाभाविक ही है कि भक्त में व्यर्थ के खेलकूद या सिनेमा जाने या किसी सामाजिक उत्सव में सम्मिलित होने की कोई रुचि नहीं होती, क्योंकि वह यह जानता है कि यह समय को व्यर्थ गँवाना है। कुछ शोध-छात्र तथा दार्शनिक ऐसे हैं जो कामवासनापूर्ण जीवन या अन्य विषय का अध्ययन करते हैं, लेकिन *भगवद्गीता* के अनुसार ऐसा शोध कार्य और दार्शनिक चिन्तन निरर्थक है। यह एक प्रकार से व्यर्थ होता है। *भगवद्गीता* के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि अपने दार्शनिक विवेक से वह आत्मा की प्रकृति के विषय में शोध करे। उसे चाहिए कि वह अपने आत्मा को समझने के लिए शोध करे। यहाँ पर इसी की संस्तुति की गई है।

जहाँ तक आत्म-साक्षात्कार का सम्बन्ध है, यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है कि भक्तियोग ही व्यावहारिक है। ज्योंही भक्ति की बात उठे, तो मनुष्य को चाहिए कि परमात्मा तथा आत्मा के सम्बन्ध पर विचार करे। आत्मा तथा परमात्मा कभी एक नहीं हो सकते, विशेषतया भक्तियोग में तो कभी नहीं। परमात्मा के प्रति आत्मा की यह सेवा नित्य है, जैसा कि स्पष्ट किया गया है। अतएव भक्ति शाश्वत (नित्य) है। मनुष्य को इसी दार्शनिक धारणा में स्थित होना चाहिए।

श्रीमद्भागवत में (१.२.११) व्याख्या की गई है—*वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्*—जो परम सत्य के वास्तविक ज्ञाता हैं, वे जानते हैं कि आत्मा का साक्षात्कार तीन रूपों में किया जाता है—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। परम सत्य के साक्षात्कार में भगवान् पराकाष्ठा होते हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को समझने के पद तक पहुँचे और भगवान् की भक्ति में लग जाय। यही ज्ञान की पूर्णता है।

विनम्रता से लेकर भगवत्साक्षात्कार तक की विधि भूमि से चल कर ऊपरी मंजिल

तक पहुँचने के लिए सीढ़ी के समान है। इस सीढ़ी में कुछ ऐसे लोग हैं, जो अभी पहली सीढ़ी पर हैं, कुछ दूसरी पर, तो कुछ तीसरी पर। किन्तु जब तक मनुष्य ऊपरी मंजिल पर नहीं पहुँच जाता, जो कि कृष्ण का ज्ञान है, तब तक वह ज्ञान की निम्नतर अवस्था में ही रहता है। यदि कोई ईश्वर की बराबरी करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करना चाहता है, तो उसका प्रयास विफल होगा। यह स्पष्ट कहा गया है कि विनम्रता के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है। अपने को ईश्वर समझना सर्वाधिक गर्व है। यद्यपि जीव सदैव प्रकृति के कठोर नियमों द्वारा ठुकराया जाता है, फिर भी वह अज्ञान के कारण सोचता है कि "मैं ईश्वर हूँ।" ज्ञान का शुभारम्भ 'अमानित्व' या विनम्रता से होता है। मनुष्य को विनम्र होना चाहिए। परमेश्वर के प्रति विद्रोह के कारण ही मनुष्य प्रकृति के अधीन हो जाता है। मनुष्य को इस सच्चाई को जानना और इससे विश्वस्त होना चाहिए।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥१३॥

ज्ञेयम्—जानने योग्य; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **प्रवक्ष्यामि**—अब मैं बतलाऊँगा; **यत्**—जिसे; **ज्ञात्वा**—जानकर; **अमृतम्**—अमृत का; **अश्नुते**—आस्वादन करता है; **अनादि**—आदि रहित; **मत्-परम्**—मेरे अधीन; **ब्रह्म**—आत्मा; **न**—न तो; **सत्**—कारण; **तत्**—वह; **न**—न तो; **असत्**—कार्य,प्रभाव; **उच्यते**—कहा जाता है।

अब मैं तुम्हें ज्ञेय के विषय में बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम नित्य ब्रह्म का आस्वादन कर सकोगे। यह ब्रह्म या आत्मा, जो अनादि है और मेरे अधीन है, इस भौतिक जगत् के कार्य-कारण से परे स्थित है।

तात्पर्य : भगवान् ने क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ की व्याख्या की। उन्होंने क्षेत्रज्ञ को जानने की विधि की भी व्याख्या की। अब वे ज्ञेय के विषय में बता रहे हैं—पहले आत्मा के विषय में, फिर परमात्मा के विषय में। ज्ञाता अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही के ज्ञान से मनुष्य जीवन-अमृत का आस्वादन कर सकता है। जैसा कि द्वितीय अध्याय में कहा गया है, जीव नित्य है। इसकी भी यहाँ पुष्टि हुई है। *जीव* के उत्पन्न होने की कोई निश्चित तिथि नहीं है। न ही कोई परमेश्वर से *जीवात्मा* के प्राकट्य का इतिहास बता सकता है। अतएव वह अनादि है। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है—*न जायते म्रियते वा विपश्चित्* (*कठोपनिषद्* १.२.१८)। शरीर का ज्ञाता न तो कभी उत्पन्न होता है, और न मरता है। वह ज्ञान से पूर्ण होता है।

वैदिक साहित्य में (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.१६) भी परमेश्वर को परमात्मा रूप में—*प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः*—शरीर का मुख्य ज्ञाता तथा प्रकृति के गुणों का स्वामी कहा गया है। स्मृति वचन है—*दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन*। जीवात्माएँ सदा भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं। इसकी पुष्टि भगवान् चैतन्य के अपने उपदेशों में भी है। अतएव इस श्लोक में ब्रह्म का जो वर्णन है, वह आत्मा का है और जब ब्रह्म शब्द जीवात्मा के लिए व्यवहृत होता है, तो यह समझना चाहिए कि वह *आनन्दब्रह्म* न होकर *विज्ञानब्रह्म* है। *आनन्द ब्रह्म* ही *परब्रह्म* भगवान् है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१४॥

सर्वतः—सर्वत्र; **पाणि**—हाथ; **पादम्**—पैर; **तत्**—वह; **सर्वतः**—सर्वत्र; **अक्षि**—आँखें; **शिरः**—सिर; **मुखम्**—मुँह; **सर्वतः**—सर्वत्र; **श्रुति-मत्**—कानों से युक्त; **लोके**—संसार में; **सर्वम्**—हर वस्तु; **आवृत्य**—व्याप्त करके; **तिष्ठति**—अवस्थित है।

उनके हाथ, पाँव, आखें, सिर तथा मुँह तथा उनके कान सर्वत्र हैं। इस प्रकार परमात्मा सभी वस्तुओं में व्याप्त होकर अवस्थित है।

तात्पर्य : जिस प्रकार सूर्य अपनी अनन्त रश्मियों को विकीर्ण करके स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा या भगवान् भी हैं। वे अपने सर्वव्यापी रूप में स्थित रहते हैं, और उनमें आदि शिक्षक ब्रह्मा से लेकर छोटी सी चींटी तक के सारे जीव स्थित हैं। उनके अनन्त शिर, हाथ, पाँव तथा नेत्र हैं, और अनन्त जीव हैं। ये सभी परमात्मा में ही स्थित हैं। अतएव परमात्मा सर्वव्यापक है। लेकिन आत्मा यह नहीं कह सकता कि उसके हाथ, पाँव तथा नेत्र चारों दिशाओं में हैं। यह सम्भव नहीं है। यदि वह अज्ञान के कारण यह सोचता है कि उसे इसका ज्ञान नहीं है कि उसके हाथ तथा पैर चतुर्दिक प्रसरित हैं, किन्तु समुचित ज्ञान होने पर वह ऐसी स्थिति में आ जायेगा तो उसका ऐसा सोचना उल्टा है। इसका अर्थ यही होता है कि प्रकृति द्वारा बद्ध होने के कारण आत्मा परम नहीं है। परमात्मा आत्मा से भिन्न है। परमात्मा अपना हाथ असीम दूरी तक फैला सकता है, किन्तु आत्मा ऐसा नहीं कर सकता। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि यदि कोई उन्हें पत्र, पुष्प या जल अर्पित करता है, तो वे उसे स्वीकार करते हैं। यदि भगवान् दूर होते तो फिर इन वस्तुओं को वे कैसे स्वीकार कर पाते? यही भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता है। यद्यपि वे पृथ्वी से बहुत दूर अपने धाम में स्थित हैं, तो भी वे किसी के द्वारा अर्पित कोई भी वस्तु अपना हाथ फैला कर ग्रहण कर सकते हैं। यही उनकी शक्तिमत्ता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३७) कहा गया है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—यद्यपि वे अपने दिव्य लोक में लीला-रत रहते हैं, फिर भी वे सर्वव्यापी हैं। आत्मा ऐसा घोषित नहीं कर सकता कि वह सर्वव्याप्त है। अतएव इस श्लोक में आत्मा (जीव) नहीं, अपितु परमात्मा या भगवान् का वर्णन हुआ है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१५॥

सर्व—समस्त; **इन्द्रिय**—इन्द्रियों का; **गुण**—गुणों का; **आभासम्**—मूल स्रोत; **सर्व**—समस्त; **इन्द्रिय**—इन्द्रियों से; **विवर्जितम्**—विहीन; **असक्तम्**—अनासक्त; **सर्वभृत्**—प्रत्येक का पालनकर्ता; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **निर्गुणम्**—गुणविहीन; **गुण-भोक्तृ**—गुणों का स्वामी; **च**—भी।

परमात्मा समस्त इन्द्रियों के मूल स्रोत हैं, फिर भी वे इन्द्रियों से रहित हैं। वे समस्त जीवों के पालनकर्ता होकर भी अनासक्त हैं। वे प्रकृति के गुणों से परे हैं, फिर भी वे भौतिक प्रकृति के समस्त गुणों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : यद्यपि परमेश्वर समस्त जीवों की समस्त इन्द्रियों के स्रोत हैं, फिर भी जीवों की तरह उनके भौतिक इन्द्रियाँ नहीं होतीं। वास्तव में जीवों में आध्यात्मिक इन्द्रियाँ होती हैं, लेकिन बद्ध जीवन में वे भौतिक तत्त्वों से आच्छादित रहती हैं, अतएव इन्द्रियकार्यों का प्राकट्य पदार्थ द्वारा होता है। परमेश्वर की इन्द्रियाँ इस तरह आच्छादित नहीं रहतीं। उनकी इन्द्रियाँ दिव्य होती हैं, अतएव निर्गुण कहलाती हैं। गुण का अर्थ है भौतिक गुण, लेकिन उनकी इन्द्रियाँ भौतिक आवरण से रहित होती हैं। यह समझ लेना चाहिए कि उनकी इन्द्रियाँ हमारी इन्द्रियों जैसी नहीं होतीं। यद्यपि वे हमारे समस्त ऐन्द्रिय कार्यों के स्रोत हैं, लेकिन उनकी इन्द्रियाँ दिव्य होती हैं, जो कल्मषरहित होती हैं। इसकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१९) *अपाणिपादो जवनो ग्रहीता* श्लोक में हुई है। भगवान् के हाथ भौतिक कल्मषों से ग्रस्त नहीं होते, अतएव उन्हें जो कुछ अर्पित किया जाता है, उसे वे अपने हाथों से ग्रहण करते हैं। बद्धजीव तथा परमात्मा में यही अन्तर है। उनके भौतिक नेत्र नहीं होते, फिर भी उनके नेत्र होते हैं, अन्यथा वे कैसे देख सकते? वे सब कुछ देखते हैं—भूत,वर्तमान तथा भविष्य। वे जीवों के हृदय में वास करते हैं, और वे जानते हैं कि भूतकाल में हमने क्या किया, अब क्या कर रहे हैं और भविष्य में क्या होने वाला है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। वे सब कुछ जानते हैं, किन्तु उन्हें कोई नहीं जानता। कहा जाता है कि परमेश्वर के हमारे जैसे पाँव नहीं हैं, लेकिन वे आकाश में विचरण कर सकते हैं, क्योंकि उनके आध्यात्मिक पाँव होते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् निराकार नहीं हैं, उनके अपने नेत्र, पाँव, हाथ, सभी कुछ होते हैं, और चूँकि हम सभी परमेश्वर के अंश हैं, अतएव हमारे पास भी ये सारी वस्तुएँ होती हैं। लेकिन उनके हाथ, पाँव, नेत्र तथा अन्य इन्द्रियाँ प्रकृति द्वारा कल्मषग्रस्त नहीं होतीं।

भगवद्गीता से भी पुष्टि होती है कि जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से यथारूप में प्रकट होते हैं। वे भौतिक शक्ति द्वारा कल्मषग्रस्त नहीं होते, क्योंकि वे भौतिक शक्ति के भी स्वामी हैं। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि उनका सारा शरीर आध्यात्मिक है। उनका अपना नित्यस्वरूप होता है, जो सच्चिदानन्द विग्रह है। वे समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण हैं। वे सारी सम्पत्ति के स्वामी हैं और सारी शक्ति के स्वामी हैं। वे सर्वाधिक बुद्धिमान तथा ज्ञान से पूर्ण हैं। ये भगवान् के कुछ लक्षण हैं। वे समस्त जीवों के पालक हैं और सारी गतिविधि के साक्षी हैं। जहाँ तक वैदिक साहित्य से समझा जा सकता है, परमेश्वर सदैव दिव्य हैं। यद्यपि हमें उनके हाथ, पाँव, सिर, मुख नहीं दीखते, लेकिन वे होते हैं और जब हम दिव्य पद तक ऊपर उठ जाते हैं, तो हमें भगवान् के स्वरूप के दर्शन होते हैं। कल्मषग्रस्त इन्द्रियों के कारण हम उनके स्वरूप को देख नहीं पाते। अतएव निर्विशेषवादी भगवान् को नहीं समझ सकते, क्योंकि वे भौतिक दृष्टि से प्रभावित होते हैं।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १६॥

बहिः–बाहर; **अन्तः**–भीतर; **च**–भी; **भूतानाम्**–जीवों का; **अचरम्**–जड़; **चरम्**–जंगम; **एव**–भी; **च**–तथा; **सूक्ष्मत्वात्**–सूक्ष्म होने के कारण; **तत्**–वह; **अविज्ञेयम्**–अज्ञेय; **दूर-स्थम्**–दूर स्थित; **च**–भी; **अन्तिके**–पास; **च**–तथा; **तत्**–वह।

परम सत्य जड़ तथा जंगम समस्त जीवों के बाहर तथा भीतर स्थित हैं। सूक्ष्म होने के कारण वे भौतिक इन्द्रियों के द्वारा जानने या देखने से परे हैं। यद्यपि वे अत्यन्त दूर रहते हैं, किन्तु हम सबों के निकट भी हैं।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य से हम जानते हैं कि परम-पुरुष नारायण प्रत्येक जीव के बाहर तथा भीतर निवास करने वाले हैं। वे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि वे बहुत दूर हैं, फिर भी वे हमारे निकट रहते हैं। ये वैदिक साहित्य के वचन हैं। *आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः* (कठोपनिषद् १.२.२१)। चूँकि वे निरन्तर दिव्य आनन्द भोगते रहते हैं, अतएव हम यह नहीं समझ पाते कि वे सारे ऐश्वर्य का भोग किस तरह करते हैं। हम इन भौतिक इन्द्रियों से न तो उन्हें देख पाते हैं, न समझ पाते हैं। अतएव वैदिक भाषा में कहा गया है कि उन्हें समझने में हमारा भौतिक मन तथा इन्द्रियाँ असमर्थ हैं। किन्तु जिसने, भक्ति में कृष्णभावनामृत का अभ्यास करते हुए, अपने मन तथा इन्द्रियों को शुद्ध कर लिया है, वह उन्हें निरन्तर देख सकता है। *ब्रह्मसंहिता* में इसकी पुष्टि हुई है कि परमेश्वर के लिए जिस भक्त में प्रेम उपज चुका है, वह निरन्तर उनका दर्शन कर सकता है। और *भगवद्गीता* में (११.५४) इसकी पुष्टि हुई है कि उन्हें केवल भक्ति द्वारा देखा तथा समझा जा सकता है। *भक्त्या त्वनन्यया शक्यः।*

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१७॥

अविभक्तम्–बिना विभाजन के; **च**–भी; **भूतेषु**–समस्त जीवों में; **विभक्तम्**–बँटा हुआ; **इव**–मानो; **च**–भी; **स्थितम्**–स्थित; **भूत-भर्तृ**–समस्त जीवों का पालक; **च**–भी; **तत्**–वह; **ज्ञेयम्**–जानने योग्य; **ग्रसिष्णु**–निगलते हुए, संहार करने वाला; **प्रभविष्णु**–विकास करते हुए; **च**–भी।

यद्यपि परमात्मा समस्त जीवों के मध्य विभाजित प्रतीत होता है, लेकिन वह कभी भी विभाजित नहीं है। वह एक रूप में स्थित है। यद्यपि वह प्रत्येक जीव का पालनकर्ता है, लेकिन यह समझना चाहिए कि वह सबों का संहारकर्ता है और सबों को जन्म देता है।

तात्पर्य : भगवान् सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वे बँटे हुए हैं? नहीं। वास्तव में वे एक हैं। यहाँ पर सूर्य का उदाहरण दिया जाता है। सूर्य मध्याह्न समय अपने स्थान पर रहता है, लेकिन यदि कोई चारों ओर पाँच हजार मील की दूरी पर घूमे और पूछे कि सूर्य कहाँ है, तो सभी लोग यही कहेंगे कि वह उसके सिर पर चमक रहा है। वैदिक साहित्य में यह उदाहरण यह दिखाने के लिए दिया गया है कि यद्यपि भगवान् अविभाजित हैं, लेकिन इस प्रकार स्थित हैं मानो

विभाजित हों। यही नहीं, वैदिक साहित्य में यह भी कहा गया है कि अपनी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा एक विष्णु सर्वत्र विद्यमान हैं, जिस तरह अनेक पुरुषों को एक ही सूर्य की प्रतीति अनेक स्थानों में होती है। यद्यपि परमेश्वर प्रत्येक जीव के पालनकर्ता हैं, किन्तु प्रलय के समय सबों का भक्षण कर जाते हैं। इसकी पुष्टि ग्यारहवें अध्याय में हो चुकी है, जहाँ भगवान् कहते हैं कि वे कुरुक्षेत्र में एकत्र सारे योद्धाओं का भक्षण करने के लिए आये हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वे काल के रूप में सब का भक्षण करते हैं। वे सबके प्रलयकारी और संहारकर्ता हैं। जब सृष्टि की जाती है, तो वे सबों को मूल स्थिति से विकसित करते हैं और प्रलय के समय उन सबको निगल जाते हैं। वैदिक स्तोत्र पुष्टि करते हैं कि वे समस्त जीवों के मूल तथा सबके आश्रय-स्थल हैं। सृष्टि के बाद सारी वस्तुएँ उनकी सर्वशक्तिमत्ता पर टिकी रहती हैं और प्रलय के बाद सारी वस्तुएँ पुनः उन्हीं में विश्राम पाने के लिए लौट आती हैं। ये सब वैदिक स्तोत्रों की पुष्टि करने वाले हैं। *यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व* (*तैत्तिरीय उपनिषद्* ३.१)।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १८॥

ज्योतिषाम्–समस्त प्रकाशमान वस्तुओं में; **अपि**–भी; **तत्**–वह; **ज्योतिः**–प्रकाश का स्रोत; **तमसः**–अन्धकार; **परम्**–परे; **उच्यते**–कहलाता है; **ज्ञानम्**–ज्ञान; **ज्ञेयम्**–जानने योग्य; **ज्ञान-गम्यम्**–ज्ञान द्वारा पहुँचने योग्य; **हृदि**–हृदय में; **सर्वस्य**–सब; **विष्ठितम्**–स्थित।

वे समस्त प्रकाशमान वस्तुओं के प्रकाशस्रोत हैं। वे भौतिक अंधकार से परे हैं और अगोचर हैं। वे ज्ञान हैं, ज्ञेय हैं और ज्ञान के लक्ष्य हैं। वे सबके हृदय में स्थित हैं।

तात्पर्य : परमात्मा या भगवान् ही सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों जैसी समस्त प्रकाशमान वस्तुओं के प्रकाशस्रोत हैं। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि वैकुण्ठ राज्य में सूर्य या चन्द्रमा की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वहाँ पर परमेश्वर का तेज जो है। भौतिक जगत् में वह ब्रह्मज्योति या भगवान् का आध्यात्मिक तेज महत्तत्त्व अर्थात् भौतिक तत्त्वों से ढका रहता है। अतएव इस जगत् में हमें सूर्य, चन्द्र, बिजली आदि के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन आध्यात्मिक जगत् में ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। वैदिक साहित्य में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के प्रकाशमय तेज से प्रत्येक वस्तु प्रकाशित रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि वे इस भौतिक जगत् में स्थित नहीं हैं, वे तो आध्यात्मिक जगत् (*वैकुण्ठ लोक*) में स्थित हैं, जो चिन्मय आकाश में बहुत ही दूरी पर है। इसकी भी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है। *आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्* (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८)। वे सूर्य की भाँति अत्यन्त तेजोमय हैं, लेकिन इस भौतिक जगत के अन्धकार से बहुत दूर हैं।

उनका ज्ञान दिव्य है। वैदिक साहित्य पुष्टि करता है कि ब्रह्म घनीभूत दिव्य ज्ञान है। जो वैकुण्ठलोक जाने का इच्छुक है, उसे परमेश्वर द्वारा ज्ञान प्रदान किया जाता है,

जो प्रत्येक हृदय में स्थित हैं। एक वैदिक मन्त्र है (*श्वेताश्वतर-उपनिषद्* ६.१८)—*तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये*। मुक्ति के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् की शरण में जाय। जहाँ तक चरम ज्ञान के लक्ष्य का सम्बन्ध है, वैदिक साहित्य से भी पुष्टि होती है—*तमेव विदित्वाति मृत्युमेति*—उन्हें जान लेने के बाद ही जन्म तथा मृत्यु की परिधि को लाँघा जा सकता है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८)।

वे प्रत्येक हृदय में परम नियन्ता के रूप में स्थित हैं। परमेश्वर के हाथ-पैर सर्वत्र फैले हैं, लेकिन जीवात्मा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि कार्य क्षेत्र को जानने वाले दो ज्ञाता हैं—एक जीवात्मा तथा दूसरा परमात्मा। पहले के हाथ-पैर केवल किसी एक स्थान तक सीमित (एकदेशीय) हैं, जबकि कृष्ण के हाथ-पैर सर्वत्र फैले हैं। इसकी पुष्टि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१७) इस प्रकार हुई है—*सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्*। वह परमेश्वर या परमात्मा समस्त जीवों का स्वामी या प्रभु है, अतएव वह उन सबका चरम आश्रय है। अतएव इस बात से मना नहीं किया जा सकता कि परमात्मा तथा जीवात्मा सदैव भिन्न होते हैं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १९॥

इति—इस प्रकार; **क्षेत्रम्**—कर्म का क्षेत्र (शरीर); **तथा**—भी; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **ज्ञेयम्**—जानने योग्य; **च**—भी; **उक्तम्**—कहा गया; **समासतः**—संक्षेप में; **मत्-भक्तः**—मेरा भक्त; **एतत्**—यह सब; **विज्ञाय**—जान कर; **मत्-भावाय**—मेरे स्वभाव को; **उपपद्यते**—प्राप्त करता है।

इस प्रकार मैंने कर्म क्षेत्र (शरीर), ज्ञान तथा ज्ञेय का संक्षेप में वर्णन किया है। इसे केवल मेरे भक्त ही पूरी तरह समझ सकते हैं और इस तरह मेरे स्वभाव को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने शरीर, ज्ञान तथा ज्ञेय का संक्षेप में वर्णन किया है। यह ज्ञान तीन वस्तुओं का है—ज्ञाता, ज्ञेय तथा जानने की विधि। ये तीनों मिलकर विज्ञान कहलाते हैं। पूर्ण ज्ञान भगवान् के अनन्य भक्तों द्वारा प्रत्यक्षतः समझा जा सकता है। अन्य इसे समझ पाने में असमर्थ रहते हैं। अद्वैतवादियों का कहना है कि अन्तिम अवस्था में ये तीनों बातें एक हो जाती हैं, लेकिन भक्त इसे नहीं मानते। ज्ञान तथा ज्ञान के विकास का अर्थ है, अपने आपको कृष्णभावनामृत में समझना। हम भौतिक चेतना द्वारा संचालित होते हैं, लेकिन ज्योंही हम अपनी सारी चेतना कृष्ण के कार्यों में स्थानान्तरित कर देते हैं, और इसका अनुभव करते हैं कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, तो हम वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, ज्ञान तो भक्ति को पूर्णतया समझने के लिए प्रारम्भिक अवस्था है। पन्द्रहवें अध्याय में इसकी विशद व्याख्या की गई है।

अब हम सारांश रूप में कह सकते हैं कि श्लोक ६ तथा ७ के *महाभूतानि* से लेकर *चेतना धृतिः* तक भौतिक तत्त्वों तथा जीवन के लक्षणों की कुछ अभिव्यक्तियों का विश्लेषण हुआ है। ये सब मिलकर शरीर अथवा कार्यक्षेत्र का निर्माण करते हैं, तथा श्लोक ८ से लेकर १२ तक *अमानित्वम्* से लेकर *तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम्* तक कार्यक्षेत्र के

दोनों प्रकार के ज्ञाताओं, अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान की विधि का वर्णन हुआ है। श्लोक १३ से १८ में *अनादि मत्परम्* से लेकर *हृदि सर्वस्य विष्ठितम्* तक जीवात्मा तथा परमात्मा का वर्णन हुआ है।

इस प्रकार तीन बातों का वर्णन हुआ है—कार्यक्षेत्र (शरीर), जानने की विधि तथा आत्मा एवं परमात्मा। यहाँ इसका विशेष उल्लेख हुआ है कि भगवान् के अनन्य भक्त ही इन तीनों बातों को ठीक से समझ सकते हैं। अतएव ऐसे भक्तों के लिए *भगवद्गीता* अत्यन्त लाभप्रद है, वे ही परम लक्ष्य, अर्थात् परमेश्वर कृष्ण के स्वभाव को प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, केवल भक्त ही *भगवद्गीता* को समझ सकते हैं और वांछित फल प्राप्त कर सकते हैं—अन्य लोग नहीं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ २०॥

प्रकृतिम्—भौतिक प्रकृति को; **पुरुषम्**—जीव को; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **विद्धि**—जानो; **अनादी**—आदिरहित; **उभौ**—दोनों; **अपि**—भी; **विकारान्**—विकारों को; **च**—भी; **गुणान्**—प्रकृति के तीन गुण; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **विद्धि**—जानो; **प्रकृति**—भौतिक प्रकृति से; **सम्भवान्**—उत्पन्न।

प्रकृति तथा जीवों को अनादि समझना चाहिए। उनके विकार तथा गुण प्रकृतिजन्य हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय के ज्ञान से मनुष्य शरीर (क्षेत्र) तथा शरीर के ज्ञाता (जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों) को जान सकता है। शरीर क्रियाक्षेत्र है और प्रकृति से निर्मित है। शरीर के भीतर बद्ध तथा उसके कार्यों का भोग करने वाला आत्मा ही पुरुष या जीव है। वह ज्ञाता है और इसके अतिरिक्त भी दूसरा ज्ञाता होता है, जो परमात्मा है। निस्सन्देह यह समझना चाहिए कि परमात्मा तथा आत्मा एक ही भगवान् की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। जीवात्मा उनकी शक्ति है और परमात्मा उनका साक्षात् अंश (स्वांश) है।

प्रकृति तथा जीव दोनों ही नित्य हैं। तात्पर्य यह है कि वे सृष्टि के पहले से विद्यमान हैं। यह भौतिक अभिव्यक्ति परमेश्वर की शक्ति से है, और उसी प्रकार जीव भी हैं, किन्तु जीव श्रेष्ठ शक्ति है। जीव तथा प्रकृति इस ब्रह्माण्ड के उत्पन्न होने के पूर्व से विद्यमान हैं। प्रकृति तो महाविष्णु में लीन हो गई और जब इसकी आवश्यकता पड़ी तो यह महत्-तत्त्व के द्वारा प्रकट हुई। इसी प्रकार से जीव भी उनके भीतर रहते हैं, और चूँकि वे बद्ध हैं, अतएव वे परमेश्वर की सेवा करने से विमुख हैं। इस तरह उन्हें वैकुण्ठ-लोक में प्रविष्ट होने नहीं दिया जाता। लेकिन प्रकृति के व्यक्त होने पर इन्हें भौतिक जगत् में पुनः कर्म करने और वैकुण्ठ-लोक में प्रवेश करने की तैयारी करने का अवसर दिया जाता है। इस भौतिक सृष्टि का यही रहस्य है। वास्तव में जीवात्मा मूलतः परमेश्वर का अंश है, लेकिन अपने विद्रोही स्वभाव के कारण वह प्रकृति के भीतर बद्ध रहता है। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि ये जीव या श्रेष्ठ जीव किस प्रकार प्रकृति के सम्पर्क में आये। किन्तु भगवान् जानते हैं कि ऐसा कैसे और क्यों हुआ। शास्त्रों में भगवान् का

वचन है कि जो लोग प्रकृति द्वारा आकृष्ट हैं, वे कठिन जीवन-संघर्ष कर रहे हैं। लेकिन इन कुछ श्लोकों के वर्णनों से यह निश्चित समझ लेना होगा कि प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा उत्पन्न विकार प्रकृति की ही उपज हैं। जीवों के सारे विकार तथा प्रकार शरीर के कारण हैं। जहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध है, सारे जीव एक से हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २१॥

कार्य—कार्य; **कारण**—तथा कारण का; **कर्तृत्वे**—सृजन के मामले में; **हेतुः**—कारण; **प्रकृतिः**—प्रकृति; **उच्यते**—कही जाती है; **पुरुषः**—जीवात्मा; **सुख**—सुख; **दुःखानाम्**—तथा दुख का; **भोक्तृत्वे**—भोग में; **हेतुः**—कारण; **उच्यते**—कहा जाता है।

प्रकृति समस्त भौतिक कारणों तथा कार्यों (परिणामों) की हेतु कही जाती है, और जीव (पुरुष) इस संसार में विविध सुख-दुख के भोग का कारण कहा जाता है।

तात्पर्य : जीवों में शरीर तथा इन्द्रियों की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ प्रकृति के कारण हैं। कुल मिलाकर ८४ लाख भिन्न-भिन्न योनियाँ हैं और ये सब प्रकृतिजन्य हैं। जीव के विभिन्न इन्द्रिय-सुखों से ये योनियाँ मिलती हैं जो इस प्रकार इस शरीर या उस शरीर में रहने की इच्छा करता है। जब उसे विभिन्न शरीर प्राप्त होते हैं, तो वह विभिन्न प्रकार के सुख तथा दुख भोगता है। उसके भौतिक सुख-दुख उसके शरीर के कारण होते हैं, स्वयं उसके कारण नहीं। उसकी मूल अवस्था में भोग में कोई सन्देह नहीं रहता, अतएव वही उसकी वास्तविक स्थिति है। वह प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के लिए भौतिक जगत् में आता है। वैकुण्ठ-लोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं होती। वैकुण्ठ-लोक शुद्ध है, किन्तु भौतिक जगत् में प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न प्रकार के शरीर-सुखों को प्राप्त करने के लिए कठिन संघर्ष में रत रहता है। यह कहने से बात और स्पष्ट हो जाएगी कि यह शरीर इन्द्रियों का कार्य है। इन्द्रियाँ इच्छाओं की पूर्ति का साधन हैं। यह शरीर तथा हेतु रूप इन्द्रियाँ प्रकृति द्वारा प्रदत्त हैं, और जैसा कि अगले श्लोक से स्पष्ट हो जाएगा, जीव को अपनी पूर्व आकांक्षा तथा कर्म के अनुसार परिस्थितियों के वश वरदान या शाप मिलता है। जीव की इच्छाओं तथा कर्मों के अनुसार प्रकृति उसे विभिन्न स्थानों में पहुँचाती है। जीव स्वयं ऐसे स्थानों में जाने तथा मिलने वाले सुख-दुख का कारण होता है। एक प्रकार का शरीर प्राप्त हो जाने पर वह प्रकृति के वश में हो जाता है, क्योंकि शरीर, पदार्थ होने के कारण, प्रकृति के नियमानुसार कार्य करता है। उस समय शरीर में ऐसी शक्ति नहीं कि वह उस नियम को बदल सके। मान लीजिये कि जीव को कुत्ते का शरीर प्राप्त हो गया। ज्योंही वह कुत्ते के शरीर में स्थापित किया जाता है, उसे कुत्ते की भाँति आचरण करना होता है। वह अन्यथा आचरण नहीं कर सकता। यदि जीव को सूकर का शरीर प्राप्त होता है, तो वह मल खाने तथा सूकर की भाँति रहने के लिए बाध्य है। इसी प्रकार यदि जीव को देवता का शरीर प्राप्त हो जाता है, तो उसे अपने शरीर के अनुसार कार्य करना होता है। यही प्रकृति का नियम है। लेकिन समस्त परिस्थितियों में परमात्मा जीव के साथ रहता है। वेदों में (*मुण्डक उपनिषद्* ३.१.१) इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई

है—*द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय:*। परमेश्वर जीव पर इतना कृपालु है कि वह सदा जीव के साथ रहता है और सभी परिस्थितियों में परमात्मा रूप में विद्यमान रहता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २२॥

पुरुषः—जीव; **प्रकृतिस्थः**—भौतिक शक्ति में स्थित होकर; **हि**—निश्चय ही; **भुङ्क्ते**—भोगता है; **प्रकृति-जान्**—प्रकृति से उत्पन्न; **गुणान्**—गुणों को; **कारणम्**—कारण; **गुण-सङ्गः**—प्रकृति के गुणों की संगति; **अस्य**—जीव की; **सत्-असत्**—अच्छी तथा बुरी; **योनि**—जीवन की योनियाँ, **जन्मसु**—जन्मों में।

इस प्रकार जीव प्रकृति के तीनों गुणों का भोग करता हुआ प्रकृति में ही जीवन बिताता है। यह उस प्रकृति के साथ उसकी संगति के कारण है। इस तरह उसे उत्तम तथा अधम योनियाँ मिलती रहती हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक यह समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है कि जीव एक शरीर से दूसरे में किस प्रकार देहान्तरण करता है। दूसरे अध्याय में बताया गया है कि जीव एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर उसी तरह धारण करता है, जिस प्रकार कोई वस्त्र बदलता है। वस्त्र का परिवर्तन इस संसार के प्रति आसक्ति के कारण है। जब तक जीव इस मिथ्या प्राकट्य पर मुग्ध रहता है, तब तक उसे निरन्तर देहान्तरण करना पड़ता है। प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के फलस्वरूप वह ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसता रहता है। भौतिक इच्छा के वशीभूत हो, उसे कभी देवता के रूप में, तो कभी मनुष्य के रूप में, कभी पशु, कभी पक्षी, कभी कीड़े, कभी जल-जन्तु, कभी सन्त पुरुष, तो कभी खटमल के रूप में जन्म लेना होता है। यह क्रम चलता रहता है और प्रत्येक परिस्थिति में जीव अपने को परिस्थितियों का स्वामी मानता रहता है, जबकि वह प्रकृति के वश में होता है।

यहाँ पर बताया गया है कि जीव किस प्रकार विभिन्न शरीरों को प्राप्त करता है। यह प्रकृति के विभिन्न गुणों की संगति के कारण है। अतएव इन गुणों से ऊपर उठकर दिव्य पद पर स्थित होना होता है। यही कृष्णभावनामृत कहलाता है। कृष्णभावनामृत में स्थित हुए बिना भौतिक चेतना मनुष्य को एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करने के लिए बाध्य करती रहती है, क्योंकि अनादि काल से उसमें भौतिक आकांक्षाएँ व्याप्त हैं। लेकिन उसे इस विचार को बदलना होगा। यह परिवर्तन प्रामाणिक स्रोतों से सुनकर ही लाया जा सकता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अर्जुन है, जो कृष्ण से ईश्वर-विज्ञान का श्रवण करता है। यदि जीव इस श्रवण-विधि को अपना ले, तो प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की चिर-अभिलषित आकांक्षा समाप्त हो जाय, और क्रमशः ज्यों-ज्यों वह प्रभुत्व जताने की इच्छा को कम करता जाएगा, त्यों-त्यों उसे आध्यात्मिक सुख मिलता जाएगा। एक वैदिक मंत्र में कहा गया है कि ज्यों-ज्यों जीव भगवान् की संगति से विद्वान् बनता जाता है, त्यों-त्यों उसी अनुपात में वह आनन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २३॥

उपद्रष्टा—साक्षी; **अनुमन्ता**—अनुमति देने वाला; **च**—भी; **भर्ता**—स्वामी; **भोक्ता**—परम भोक्ता; **महा-ईश्वरः**—परमेश्वर; **परम्-आत्मा**—परमात्मा; **इति**—भी; **च**—तथा; **अपि**—निस्सन्देह; **उक्तः**—कहा गया है; **देहे**—शरीर में; **अस्मिन्**—इस; **पुरुषः**—भोक्ता; **परः**—दिव्य।

तो भी इस शरीर में एक अन्य दिव्य भोक्ता है, जो ईश्वर है, परम स्वामी है और साक्षी तथा अनुमति देने वाले के रूप में विद्यमान है और जो परमात्मा कहलाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर कहा गया है कि जीवात्मा के साथ निरन्तर रहने वाला परमात्मा परमेश्वर का प्रतिनिधि है। वह सामान्य जीव नहीं है। चूँकि अद्वैतवादी चिन्तक शरीर के ज्ञाता को एक मानते हैं, अतएव उनके विचार से परमात्मा तथा जीवात्मा में कोई अन्तर नहीं है। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए भगवान् कहते हैं कि वे प्रत्येक शरीर में परमात्मा-रूप में विद्यमान हैं। वे जीवात्मा से भिन्न हैं, वे पर हैं, दिव्य हैं। जीवात्मा किसी विशेष क्षेत्र के कार्यों को भोगता है, लेकिन परमात्मा किसी सीमित भोक्ता के रूप में या शारीरिक कर्मों में भाग लेने वाले के रूप में विद्यमान नहीं रहता, अपितु वह साक्षी, अनुमतिदाता तथा परम भोक्ता के रूप में स्थित रहता है। उसका नाम परमात्मा है, आत्मा नहीं। वह दिव्य है। अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आत्मा तथा परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा के हाथ-पैर सर्वत्र रहते हैं, लेकिन जीवात्मा के ऐसा नहीं होता। चूँकि परमात्मा परमेश्वर है, अतएव वह अन्दर से जीव की भौतिक भोग की आंकाक्षा पूर्ति की अनुमति देता है। परमात्मा की अनुमति के बिना जीवात्मा कुछ भी नहीं कर सकता। जीव *भुक्त* है और भगवान् *भोक्ता* या पालक हैं। जीव अनन्त हैं और भगवान् उन सबमें मित्र-रूप में निवास करता है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक जीव परमेश्वर का नित्य अंश है और दोनों मित्र रूप में घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित हैं। लेकिन जीव में परमेश्वर के आदेश को अस्वीकार करने की, प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के उद्देश्य से स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। चूँकि उसमें यह प्रवृत्ति होती है, अतएव वह परमेश्वर की तटस्था शक्ति कहलाता है। जीव या तो भौतिक शक्ति में या आध्यात्मिक शक्ति में स्थित हो सकता है। जब तक वह भौतिक शक्ति द्वारा बद्ध रहता है, तब तक परमेश्वर मित्र रूप में परमात्मा की तरह उसके भीतर रहते हैं, जिससे उसे आध्यात्मिक शक्ति में वापस ले जा सकें। भगवान् उसे आध्यात्मिक शक्ति में वापस ले जाने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं, लेकिन अपनी अल्प स्वतन्त्रता के कारण जीव निरन्तर आध्यात्मिक प्रकाश की संगति ठुकराता है। स्वतन्त्रता का यह दुरुपयोग ही बद्ध प्रकृति में उसके भौतिक संघर्ष का कारण है। अतएव भगवान् निरन्तर बाहर तथा भीतर से आदेश देते रहते हैं। बाहर से वे *भगवद्गीता* के रूप में उपदेश देते हैं और भीतर से वे जीव को यह विश्वास दिलाते हैं कि भौतिक क्षेत्र में उसके कार्यकलाप वास्तविक सुख के लिए अनुकूल नहीं

हैं। उनका वचन है "इसे त्याग दो और मेरे प्रति श्रद्धा करो। तभी तुम सुखी होगे।" इस प्रकार जो बुद्धिमान व्यक्ति परमात्मा में अथवा भगवान् में श्रद्धा रखता है, वह सच्चिदानन्दमय जीवन की ओर प्रगति करने लगता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २४॥

यः—जो; **एवम्**—इस प्रकार; **वेत्ति**—जानता है; **पुरुषम्**—जीव को; **प्रकृतिम्**—प्रकृति को; **च**—तथा; **गुणैः**—प्रकृति के गुणों के; **सह**—साथ; **सर्वथा**—सभी तरह से; **वर्तमानः**—स्थित होकर; **अपि**—के बावजूद; **न**—कभी नहीं; **सः**—वह; **भूयः**—फिर से; **अभिजायते**—जन्म लेता है।

जो व्यक्ति प्रकृति, जीव तथा प्रकृति के गुणों की अन्तःक्रिया से सम्बन्धित इस विचारधारा को समझ लेता है, उसे मुक्ति की प्राप्ति सुनिश्चित है। उसकी वर्तमान स्थिति चाहे जैसी हो, यहाँ पर उसका पुनर्जन्म नहीं होगा।

तात्पर्य : प्रकृति, परमात्मा, आत्मा तथा इनके अन्तःसम्बन्ध की स्पष्ट जानकारी हो जाने पर मनुष्य मुक्त होने का अधिकारी बनता है और वह इस भौतिक प्रकृति में लौटने के लिए बाध्य हुए विना वैकुण्ठ वापस चले जाने का अधिकारी बन जाता है। यह ज्ञान का फल है। ज्ञान यह समझने के लिए ही होता है कि दैवयोग से जीव इस संसार में आ गिरा है। उसे प्रामाणिक व्यक्तियों, साधु-पुरुषों तथा गुरु की संगति में निजी प्रयास द्वारा अपनी स्थिति समझनी है, और तब जिस रूप में भगवान् ने *भगवद्गीता* कही है, उसे समझ कर आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत को प्राप्त करना है। तब यह निश्चित है कि वह इस संसार में फिर कभी नहीं आ सकेगा, वह सच्चिदानन्दमय जीवन बिताने के लिए वैकुण्ठ-लोक भेज दिया जायेगा।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २५॥

ध्यानेन—ध्यान के द्वारा; **आत्मनि**—अपने भीतर; **पश्यन्ति**—देखते हैं; **केचित्**—कुछ लोग; **आत्मानम्**—परमात्मा को; **आत्मना**—मन से; **अन्ये**—अन्य लोग; **साङ्ख्येन**—दार्शनिक विवेचना द्वारा; **योगेन**—योग पद्धति के द्वारा; **कर्म-योगेन**—निष्काम कर्म के द्वारा; **च**—भी; **अपरे**—अन्य।

कुछ लोग परमात्मा को ध्यान के द्वारा अपने भीतर देखते हैं, तो दूसरे लोग ज्ञान के अनुशीलन द्वारा और कुछ ऐसे हैं जो निष्काम कर्मयोग द्वारा देखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि जहाँ तक मनुष्य द्वारा आत्म-साक्षात्कार की खोज का प्रश्न है, बद्धजीवों की दो श्रेणियाँ हैं। जो लोग नास्तिक, अज्ञेयवादी तथा संशयवादी हैं, वे आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन हैं। किन्तु अन्य लोग, जो आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी अपने ज्ञान के प्रति श्रद्धावान हैं, वे आत्मदर्शी भक्त, दार्शनिक तथा निष्काम कर्मयोगी कहलाते हैं। जो लोग सदैव अद्वैतवाद की स्थापना करना चाहते हैं, उनकी भी गणना नास्तिकों एवं अजेयवादियों में की जाती है। दूसरे शब्दों में, केवल

भगवद्भक्त ही आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि इस प्रकृति के भी परे वैकुण्ठ-लोक तथा भगवान् है, जिसका विस्तार परमात्मा के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में हुआ है, और जो सर्वव्यापी है। निस्सन्देह कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो ज्ञान के अनुशीलन द्वारा भगवान् को समझने का प्रयास करते हैं। इन्हें श्रद्धावानों की श्रेणी में गिना जा सकता है। सांख्य दार्शनिक इस भौतिक जगत का विश्लेषण २४ तत्त्वों के रूप में करते हैं, और वे आत्मा को पच्चीसवाँ तत्त्व मानते हैं। जब वे आत्मा की प्रकृति को भौतिक तत्त्वों से परे समझने में समर्थ होते हैं, तो वे यह भी समझ जाते हैं कि आत्मा के भी ऊपर भगवान् है, और वह छब्बीसवाँ तत्त्व है। इस प्रकार वे भी क्रमशः कृष्णभावनामृत की भक्ति के स्तर तक पहुँच जाते हैं। जो लोग निष्काम भाव से कर्म करते हैं, उनकी भी मनोवृत्ति सही होती है। उन्हें कृष्णभावनामृत की भक्ति के पद तक बढ़ने का अवसर दिया जाता है। यहाँ पर यह कहा गया है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनकी चेतना शुद्ध होती है, और वे ध्यान द्वारा परमात्मा को खोजने का प्रयत्न करते हैं, और जब वे परमात्मा को अपने अन्दर खोज लेते हैं, तो वे दिव्य पद को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अन्य लोग हैं, जो ज्ञान के अनुशीलन द्वारा परमात्मा को जानने का प्रयास करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो *हठयोग* द्वारा, अपने बालकों जैसे क्रियाकलापों द्वारा, भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २६ ॥

अन्ये—अन्य लोग; **तु**—लेकिन; **एवम्**—इस प्रकार; **अजानन्तः**—आध्यात्मिक ज्ञान से रहित; **श्रुत्वा**—सुनकर; **अन्येभ्यः**—अन्यों से; **उपासते**—पूजा करना प्रारम्भ कर देते हैं; **ते**—वे; **अपि**—भी; **च**—तथा; **अतितरन्ति**—पार कर जाते हैं; **एव**—निश्चय ही; **मृत्युम्**—मृत्यु का मार्ग; **श्रुति-परायणाः**—श्रवण विधि के प्रति रुचि रखने वाले।

ऐसे भी लोग हैं जो यद्यपि आध्यात्मिक ज्ञान से अवगत नहीं होते पर अन्यों से परम पुरुष के विषय में सुनकर उनकी पूजा करने लगते हैं। ये लोग भी प्रामाणिक पुरुषों से श्रवण करने की मनोवृत्ति होने के कारण जन्म तथा मृत्यु के पथ को पार कर जाते हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक आधुनिक समाज पर विशेष रूप से लागू होता है, क्योंकि आधुनिक समाज में आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा नहीं दी जाती। कुछ लोग नास्तिक प्रतीत होते हैं, तो कुछ अजेयवादी तथा दार्शनिक, लेकिन वास्तव में इन्हें दर्शन का कोई ज्ञान नहीं होता। जहाँ तक सामान्य व्यक्ति की बात है, यदि वह पुण्यात्मा है, तो श्रवण द्वारा प्रगति कर सकता है। यह श्रवण विधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक जगत् में कृष्णभावनामृत का उपदेश करने वाले भगवान् चैतन्य ने श्रवण पर अत्यधिक बल दिया था, क्योंकि यदि सामान्य व्यक्ति प्रामाणिक स्रोतों से केवल श्रवण करे, तो वह प्रगति कर सकता है—विशेषतया चैतन्य महाप्रभु के अनुसार यदि वह *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/ हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे*

हरे–दिव्य ध्वनि को सुने। इसीलिए कहा गया है कि सभी व्यक्तियों को सिद्ध पुरुषों से श्रवण करने का लाभ उठाना चाहिए, और इस तरह क्रम से प्रत्येक वस्तु समझने में समर्थ बनना चाहिए। तब निश्चित रूप से परमेश्वर की पूजा हो सकेगी। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि इस युग में मनुष्य को अपना पद बदलने की आवश्यकता नहीं है, अपितु उसे चाहिए कि वह मनोधार्मिक तर्क द्वारा परम सत्य को समझने के प्रयास को त्याग दे। उसे उन व्यक्तियों का दास बनना चाहिए, जिन्हें परमेश्वर का ज्ञान है। यदि कोई इतना भाग्यशाली हुआ कि उसे शुद्ध भक्त की शरण मिल सके और वह उससे आत्म-साक्षात्कार के विषय में श्रवण करके उसके पदचिन्हों पर चल सके, तो उसे क्रमशः शुद्ध भक्त का पद प्राप्त हो जाता है। इस श्लोक में श्रवण विधि पर विशेष रूप से बल दिया गया है, और यह सर्वथा उपयुक्त है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति तथाकथित दार्शनिकों की भाँति प्रायः समर्थ नहीं होता, लेकिन प्रामाणिक व्यक्ति से श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से इस भवसागर को पार करके भगवद्धाम वापस जाने में उसे सहायता मिलेगी।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २७॥

यावत्–जो भी; **सञ्जायते**–उत्पन्न होता है; **किञ्चित्**–कुछ भी; **सत्त्वम्**–अस्तित्व; **स्थावर**–अचर; **जङ्गमम्**–चर; **क्षेत्र**–शरीर का; **क्षेत्र-ज्ञ**–तथा शरीर के ज्ञाता के; **संयोगात्**–संयोग (जुड़ने) से; **तत् विद्धि**–तुम उसे जानो; **भरत-ऋषभ**–हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! यह जान लो कि चर तथा अचर जो भी तुम्हें अस्तित्व में दीख रहा है, वह कर्मक्षेत्र तथा क्षेत्र के ज्ञाता का संयोग मात्र है।

तात्पर्य : इस श्लोक में ब्रह्माण्ड की सृष्टि के भी पूर्व से अस्तित्व में रहने वाली प्रकृति तथा जीव दोनों की व्याख्या की गई है। जो कुछ भी उत्पन्न किया जाता है, वह जीव तथा प्रकृति का संयोग मात्र होता है। वृक्ष, पर्वत आदि ऐसी अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं, जो गतिशील नहीं हैं। इनके साथ ही ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो गतिशील हैं और ये सब भौतिक प्रकृति तथा परा प्रकृति अर्थात् जीव के संयोग मात्र हैं। परा प्रकृति, जीव के स्पर्श के बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। भौतिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक प्रकृति का सम्बन्ध निरन्तर चल रहा है और यह संयोग परमेश्वर द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। अतएव वे ही परा तथा अपरा प्रकृतियों के नियामक हैं। अपरा प्रकृति उनके द्वारा सृष्ट है और परा प्रकृति उस अपरा प्रकृति में रखी जाती है। इस प्रकार सारे कार्य तथा अभिव्यक्तियाँ घटित होती हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २८॥

समम्–समभाव से; **सर्वेषु**–समस्त; **भूतेषु**–जीवों में; **तिष्ठन्तम्**–वास करते हुए; **परम-**

ईश्वरम्—परमात्मा को; **विनश्यत्सु**—नाशवान; **अविनश्यन्तम्**—नाशरहित; **यः**—जो; **पश्यति**—देखता है; **सः**—वही; **पश्यति**—वास्तव में देखता है।

जो परमात्मा को समस्त शरीरों में आत्मा के साथ देखता है और जो यह समझता है कि इस नश्वर शरीर के भीतर न तो आत्मा, न ही परमात्मा कभी भी विनष्ट होता है, वही वास्तव में देखता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति सत्संगति से तीन वस्तुओं को—शरीर, शरीर का स्वामी या आत्मा, तथा आत्मा के मित्र को—एकसाथ संयुक्त देखता है, वही सच्चा ज्ञानी है। जब तक आध्यात्मिक विषयों के वास्तविक ज्ञाता की संगति नहीं मिलती, तब तक कोई इन तीनों वस्तुओं को नहीं देख सकता। जिन लोगों की ऐसी संगति नहीं होती, वे अज्ञानी हैं, वे केवल शरीर को देखते हैं, और जब यह शरीर विनष्ट हो जाता है, तो समझते हैं कि सब कुछ नष्ट हो गया। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। शरीर के विनष्ट होने पर आत्मा तथा परमात्मा का अस्तित्व बना रहता है, और वे अनेक विविध चर तथा अचर रूपों में सदैव जाते रहते हैं। कभी-कभी संस्कृत शब्द *परमेश्वर* का अनुवाद जीवात्मा के रूप में किया जाता है, क्योंकि आत्मा ही शरीर का स्वामी है और शरीर के विनाश होने पर वह अन्यत्र देहान्तरण कर जाता है। इस तरह वह स्वामी है। लेकिन कुछ लोग इस परमेश्वर शब्द का अर्थ परमात्मा लेते हैं। प्रत्येक दशा में परमात्मा तथा आत्मा दोनों रह जाते हैं। वे विनष्ट नहीं होते। जो इस प्रकार देख सकता है, वही वास्तव में देख सकता है कि क्या घटित हो रहा है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २९॥

समम्—समान रूप से; **पश्यन्**—देखते हुए; **हि**—निश्चय ही; **सर्वत्र**—सभी जगह; **समवस्थितम्**—समान रूप से स्थित; **ईश्वरम्**—परमात्मा को; **न**—नहीं; **हिनस्ति**—नीचे गिराता है; **आत्मना**—मन से; **आत्मानम्**—आत्मा को; **ततः**—तब; **याति**—पहुँचता है; **पराम्**—दिव्य; **गतिम्**—गन्तव्य को।

जो व्यक्ति परमात्मा को सर्वत्र तथा प्रत्येक जीव में समान रूप से वर्तमान देखता है, वह अपने मन के द्वारा अपने आपको भ्रष्ट नहीं करता। इस प्रकार वह दिव्य गन्तव्य को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जीव, अपना भौतिक अस्तित्व स्वीकार करने के कारण, अपने आध्यात्मिक अस्तित्व से पृथक् स्थित हो गया है। किन्तु यदि वह यह समझता है कि परमेश्वर अपने परमात्मा स्वरूप में सर्वत्र स्थित हैं, अर्थात् यदि वह भगवान् की उपस्थिति प्रत्येक वस्तु में देखता है, तो वह विघटनकारी मानसिकता से अपने आपको नीचे नहीं गिराता, और इसलिए वह क्रमशः वैकुण्ठ-लोक की ओर बढ़ता जाता है। सामान्यतया मन इन्द्रियतृप्तिकारी कार्यों में लीन रहता है, लेकिन जब वही मन परमात्मा की ओर उन्मुख होता है, तो मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान में आगे बढ़ जाता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ ३०॥

प्रकृत्या—प्रकृति द्वारा; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **कर्माणि**—कार्य; **क्रियमाणानि**—सम्पन्न किये गये; **सर्वशः**—सभी प्रकार से; **यः**—जो; **पश्यति**—देखता है; **तथा**—भी; **आत्मानम्**—अपने आपको; **अकर्तारम्**—अकर्ता; **सः**—वह; **पश्यति**—अच्छी तरह देखता है।

जो यह देखता है कि सारे कार्य शरीर द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, जिसकी उत्पत्ति प्रकृति से हुई है, और जो देखता है कि आत्मा कुछ भी नहीं करता, वही यथार्थ में देखता है।

तात्पर्य : यह शरीर परमात्मा के निर्देशानुसार प्रकृति द्वारा बनाया गया है और मनुष्य के शरीर के जितने भी कार्य सम्पन्न होते हैं, वे उसके द्वारा नहीं किये जाते। मनुष्य जो भी करता है, चाहे सुख के लिए करे, या दुख के लिए, वह शारीरिक रचना के कारण उसे करने के लिए बाध्य होता है। लेकिन आत्मा इन शारीरिक कार्यों से विलग रहता है। यह शरीर मनुष्य को पूर्व इच्छाओं के अनुसार प्राप्त होता है। इच्छाओं की पूर्ति के लिए शरीर मिलता है, जिससे वह इच्छानुसार कार्य करता है। एक तरह से शरीर एक यंत्र है, जिसे परमेश्वर ने इच्छाओं की पूर्ति के लिए निर्मित किया है। इच्छाओं के कारण ही मनुष्य दुख भोगता है या सुख पाता है। जब जीव में यह दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, तो वह शारीरिक कार्यों से पृथक् हो जाता है। जिसमें ऐसी दृष्टि आ जाती है, वही वास्तविक द्रष्टा है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३१॥

यदा—जब; **भूत**—जीव के; **पृथक्-भावम्**—पृथक् स्वरूपों को; **एक-स्थम्**—एक स्थान पर; **अनुपश्यति**—किसी अधिकारी के माध्यम से देखने का प्रयास करता है; **ततःएव**—तत्पश्चात्; **च**—भी; **विस्तारम्**—विस्तार को; **ब्रह्म**—परब्रह्म; **सम्पद्यते**—प्राप्त करता है; **तदा**—उस समय।

जब विवेकवान् व्यक्ति विभिन्न भौतिक शरीरों के कारण विभिन्न स्वरूपों को देखना बन्द कर देता है, और यह देखता है कि किस प्रकार से जीव सर्वत्र फैले हुए हैं, तो वह ब्रह्म-बोध को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जब मनुष्य यह देखता है कि विभिन्न जीवों के शरीर उस जीव की विभिन्न इच्छाओं के कारण उत्पन्न हुए हैं और वे आत्मा से किसी तरह सम्बद्ध नहीं हैं, तो वह वास्तव में देखता है। देहात्मबुद्धि के कारण हम किसी को देवता, किसी को मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली आदि के रूप में देखते हैं। यह भौतिक दृष्टि है, वास्तविक दृष्टि नहीं है। यह भौतिक भेदभाव देहात्मबुद्धि के कारण है। भौतिक शरीर के विनाश के बाद आत्मा एक रहता है। यही आत्मा भौतिक प्रकृति के सम्पर्क से विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करता है। जब कोई इसे देख पाता है, तो उसे आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार जो मनुष्य, पशु, ऊँच, नीच आदि के भेदभाव से मुक्त हो जाता है उसकी चेतना

शुद्ध हो जाती है और वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप में कृष्णभावनामृत विकसित करने में समर्थ होता है। तब वह वस्तुओं को जिस रूप में देखता है, उसे अगले श्लोक में बताया गया है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।। ३२ ।।

अनादित्वात्—नित्यता के कारण; **निर्गुणत्वात्**—दिव्य होने से; **परम**—भौतिक प्रकृति से परे; **आत्मा**—आत्मा; **अयम्**—यह; **अव्ययः**—अविनाशी; **शरीर-स्थः**—शरीर में वास करने वाला; **अपि**—यद्यपि; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **न करोति**—कुछ नहीं करता; **न लिप्यते**—न ही लिप्त होता है।

शाश्वत दृष्टिसम्पन्न लोग यह देख सकते हैं कि अविनाशी आत्मा दिव्य, शाश्वत तथा गुणों से अतीत है। हे अर्जुन! भौतिक शरीर के साथ सम्पर्क होते हुए भी आत्मा न तो कुछ करता है और न लिप्त होता है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि जीव उत्पन्न होता है, क्योंकि भौतिक शरीर का जन्म होता है। लेकिन वास्तव में जीव शाश्वत है, वह उत्पन्न नहीं होता और शरीर में स्थित रह कर भी, वह दिव्य तथा शाश्वत रहता है। इस प्रकार वह विनष्ट नहीं किया जा सकता। वह स्वभाव से आनन्दमय है। वह किसी भौतिक कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतएव भौतिक शरीरों के साथ उसका सम्पर्क होने से जो कार्य सम्पन्न होते हैं, वे उसे लिप्त नहीं कर पाते।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।। ३३ ।।

यथा—जिस प्रकार; **सर्व-गतम्**—सर्वव्यापी; **सौक्ष्म्यात्**—सूक्ष्म होने के कारण; **आकाशम्**—आकाश; **न**—कभी नहीं; **उपलिप्यते**—लिप्त होता है; **सर्वत्र**—सभी जगह; **अवस्थितः**—स्थित; **देहे**—शरीर में; **तथा**—उसी प्रकार; **आत्मा**—आत्मा,स्व; **न**—कभी नहीं; **उपलिप्यते**—लिप्त होता है।

यद्यपि आकाश सर्वव्यापी है, किन्तु अपनी सूक्ष्म प्रकृति के कारण, किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता। इसी तरह ब्रह्मदृष्टि में स्थित आत्मा, शरीर में स्थित रहते हुए भी, शरीर से लिप्त नहीं होता।

तात्पर्य : वायु जल, कीचड़, मल तथा अन्य वस्तुओं में प्रवेश करती है, फिर भी वह किसी वस्तु से लिप्त नहीं होती। इसी प्रकार से जीव विभिन्न प्रकार के शरीरों में स्थित होकर भी अपनी सूक्ष्म प्रकृति के कारण उनसे पृथक बना रहता है। अतः इन भौतिक आँखों से यह देख पाना असम्भव है कि जीव किस प्रकार इस शरीर के सम्पर्क में है और शरीर के विनष्ट हो जाने पर वह उससे कैसे विलग हो जाता है। कोई भी विज्ञानी इसे निश्चित नहीं कर सकता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३४॥

यथा—जिस तरह; **प्रकाशयति**—प्रकाशित करता है; **एकः**—एक; **कृत्स्नम्**—सम्पूर्ण; **लोकम्**—ब्रह्माण्ड को; **इमम्**—इस; **रविः**—सूर्य; **क्षेत्रम्**—इस शरीर को; **क्षेत्री**—आत्मा; **तथा**—उसी तरह; **कृत्स्नम्**—समस्त; **प्रकाशयति**—प्रकाशित करता है; **भारत**—हे भरतपुत्र।

हे भरतपुत्र! जिस प्रकार सूर्य अकेले इस सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शरीर के भीतर स्थित एक आत्मा सारे शरीर को चेतना से प्रकाशित करता है।

तात्पर्य : चेतना के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। यहाँ पर *भगवद्गीता* में सूर्य तथा धूप का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार सूर्य एक स्थान पर स्थित रहकर ब्रह्माण्ड को आलोकित करता है, उसी तरह आत्मा रूप सूक्ष्म कण शरीर के हृदय में स्थित रहकर चेतना द्वारा सारे शरीर को आलोकित करता है। इस प्रकार चेतना ही आत्मा का प्रमाण है, जिस तरह धूप या प्रकाश सूर्य की उपस्थिति का प्रमाण होता है। जब शरीर में आत्मा वर्तमान रहता है, तो सारे शरीर में चेतना रहती है। किन्तु ज्योंही शरीर से आत्मा चला जाता है त्योंही चेतना लुप्त हो जाती है। इसे बुद्धिमान् व्यक्ति सुगमता से समझ सकता है। अतएव चेतना पदार्थ के संयोग से नहीं बनी होती। यह जीव का लक्षण है। जीव की चेतना यद्यपि गुणात्मक रूप से परम चेतना से अभिन्न है, किन्तु परम नहीं है, क्योंकि एक शरीर की चेतना दूसरे शरीर से सम्बन्धित नहीं होती है। लेकिन परमात्मा, जो आत्मा के सखा रूप में समस्त शरीरों में स्थित हैं, समस्त शरीरों के प्रति सचेष्ट रहते हैं। परमचेतना तथा व्यष्टि-चेतना में यही अन्तर है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३५॥

क्षेत्र—शरीर; **क्षेत्र-ज्ञयोः**—तथा शरीर के स्वामी के; **एवम्**—इस प्रकार; **अन्तरम्**—अन्तर को; **ज्ञान-चक्षुषा**—ज्ञान की दृष्टि से; **भूत**—जीव का; **प्रकृति**—प्रकृति से; **मोक्षम्**—मोक्ष को; **च**—भी; **ये**—जो; **विदुः**—जानते हैं; **यान्ति**—प्राप्त होते हैं; **ते**—वे; **परम्**—परब्रह्म को।

जो लोग ज्ञान के चक्षुओं से शरीर तथा शरीर के ज्ञाता के अन्तर को देखते हैं और भव-बन्धन से मुक्ति की विधि को भी जानते हैं, उन्हें परमलक्ष्य प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस तेरहवें अध्याय का तात्पर्य यही है कि मनुष्य को शरीर, शरीर के स्वामी तथा परमात्मा के अन्तर को समझना चाहिए। उसे श्लोक ८ से लेकर श्लोक १२ तक में वर्णित मुक्ति की विधि को जानना चाहिए। तभी वह परमगति को प्राप्त हो सकता है।

श्रद्धालु को चाहिए कि सर्वप्रथम वह ईश्वर का श्रवण करने के लिए सत्संगति करे, और धीरे-धीरे प्रबुद्ध बने। यदि गुरु स्वीकार कर लिया जाये, तो पदार्थ तथा आत्मा के

अन्तर को समझा जा सकता है और वही अग्रिम आत्म-साक्षात्कार के लिए शुभारम्भ बन जाता है। गुरु अनेक प्रकार के उपदेशों से अपने शिष्यों को देहात्मबुद्धि से मुक्त होने की शिक्षा देता है। उदाहरणार्थ—*भगवद्गीता* में कृष्ण अर्जुन को भौतिक बातों से मुक्त होने के लिए शिक्षा देते हैं।

मनुष्य यह तो समझ सकता है कि यह शरीर पदार्थ है और इसे चौबीस तत्त्वों में विश्लेषित किया जा सकता है; शरीर स्थूल अभिव्यक्ति है और मन तथा मनोवैज्ञानिक प्रभाव सूक्ष्म अभिव्यक्ति हैं। जीवन के लक्षण इन्हीं तत्त्वों की अन्तःक्रिया (विकार) हैं, किन्तु इनसे भी ऊपर आत्मा और परमात्मा हैं। आत्मा तथा परमात्मा दो हैं। यह भौतिक जगत् आत्मा तथा चौबीस तत्त्वों के संयोग से कार्यशील है। जो सम्पूर्ण भौतिक जगत् की इस रचना को आत्मा तथा तत्त्वों के संयोग से हुई मानता है और परमात्मा की स्थिति को भी देखता है, वही वैकुण्ठ-लोक जाने का अधिकारी बन पाता है। ये बातें चिन्तन तथा साक्षात्कार की हैं। मनुष्य को चाहिए कि गुरु की सहायता से इस अध्याय को भली-भाँति समझ ले।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय "प्रकृति, पुरुष तथा चेतना" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय चौदह

प्रकृति के तीन गुण

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥१॥

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **परम्**—दिव्य; **भूयः**—फिर; **प्रवक्ष्यामि**—कहूँगा; **ज्ञानानाम्**—समस्त ज्ञान का; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **उत्तमम्**—सर्वश्रेष्ठ; **यत्**—जिसे; **ज्ञात्वा**—जानकर; **मुनयः**—मुनि लोग; **सर्वे**—समस्त; **पराम्**—दिव्य; **सिद्धिम्**—सिद्धि को; **इतः**—इस संसार से; **गताः**—प्राप्त किया।

भगवान् ने कहा—अब मैं तुमसे समस्त ज्ञानों में सर्वश्रेष्ठ इस परम ज्ञान को पुनः कहूँगा, जिसे जान लेने पर समस्त मुनियों ने परम सिद्धि प्राप्त की है।

तात्पर्य : सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक श्रीकृष्ण परम सत्य भगवान् के

विषय में विस्तार से बताते हैं। अब भगवान् स्वयं अर्जुन को और आगे ज्ञान दे रहे हैं। यदि कोई इस अध्याय को दार्शनिक चिन्तन द्वारा भलीभाँति समझ ले तो उसे भक्ति का ज्ञान हो जाएगा। तेरहवें अध्याय में यह स्पष्ट बताया जा चुका है कि विनयपूर्वक ज्ञान का विकास करते हुए भवबन्धन से छूटा जा सकता है। यह भी बताया जा चुका है कि प्रकृति के गुणों की संगति के फलस्वरूप ही जीव इस भौतिक जगत् में बद्ध है। अब इस अध्याय में भगवान् स्वयं बताते हैं कि वे प्रकृति के गुण कौन-कौन से हैं, वे किस प्रकार क्रिया करते हैं, किस तरह बाँधते हैं और किस प्रकार मोक्ष प्रदान करते हैं। इस अध्याय में जिस ज्ञान का प्रकाश किया गया है उसे अन्य पूर्ववर्ती अध्यायों में दिये गये ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है। इस ज्ञान को प्राप्त करके अनेक मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की और वे वैकुण्ठलोक के भागी हुए। अब भगवान् उसी ज्ञान को और अच्छे ढंग से बताने जा रहे हैं। यह ज्ञान अभी तक बताये गये समस्त ज्ञानयोग से कहीं अधिक श्रेष्ठ है और इसे जान लेने पर अनेक लोगों को सिद्धि प्राप्त हुई है। अतः यह आशा की जाती है कि जो भी इस अध्याय को समझेगा उसे सिद्धि प्राप्त होगी।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

इदम्—इस; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **उपाश्रित्य**—आश्रय बनाकर; **मम**—मेरा; **साधर्म्यम्**—समान प्रकृति को; **आगताः**—प्राप्त करके; **सर्गे अपि**—सृष्टि में भी; **न**—कभी नहीं; **उपजायन्ते**—उत्पन्न होते हैं; **प्रलये**—प्रलय में; **न**—न तो; **व्यथन्ति**—विचलित होते हैं; **च**—भी।

इस ज्ञान में स्थिर होकर मनुष्य मेरी जैसी दिव्य प्रकृति (स्वभाव) को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार स्थित हो जाने पर वह न तो सृष्टि के समय उत्पन्न होता है और न प्रलय के समय विचलित होता है।

तात्पर्य : पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य भगवान् से गुणात्मक समता प्राप्त कर लेता है और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। लेकिन जीवात्मा के रूप में उसका वह स्वरूप समाप्त नहीं होता। वैदिक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि जो मुक्तात्माएँ वैकुण्ठ जगत् में पहुँच चुकी हैं, वे निरन्तर परमेश्वर के चरणकमलों के दर्शन करती हुई उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी रहती हैं। अतएव मुक्ति के बाद भी भक्तों का अपना निजी स्वरूप नहीं समाप्त होता।

सामान्यतया इस संसार में हम जो भी ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह प्रकृति के तीन गुणों द्वारा दूषित रहता है। जो ज्ञान इन गुणों से दूषित नहीं होता, वह दिव्य ज्ञान कहलाता है। जब कोई व्यक्ति इस दिव्य ज्ञान को प्राप्त होता है, तो वह परमपुरुष के समकक्ष पद पर पहुँच जाता है। जिन लोगों को चिन्मय आकाश का ज्ञान नहीं है, वे मानते हैं कि भौतिक स्वरूप के कार्यकलापों से मुक्त होने पर यह आध्यात्मिक पहचान बिना किसी विविधता के निराकार हो जाती है। लेकिन जिस प्रकार इस संसार में विविधता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत में भी है। जो लोग इससे परिचित नहीं हैं, वे सोचते हैं कि आध्यात्मिक जगत् इस भौतिक जगत् की विविधता

से उल्टा है। लेकिन वास्तव में होता यह है कि आध्यात्मिक जगत् (चिन्मय आकाश) में मनुष्य को आध्यात्मिक रूप प्राप्त हो जाता है। वहाँ के सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक होते हैं और यह आध्यात्मिक स्थिति भक्तिमय जीवन कहलाती है। यह वातावरण अदूषित होता है और यहाँ पर व्यक्ति गुणों की दृष्टि से परमेश्वर के समकक्ष होता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को समस्त आध्यात्मिक गुण उत्पन्न करने होते हैं। जो इस प्रकार से आध्यात्मिक गुण उत्पन्न कर लेता है, वह भौतिक जगत् के सृजन या उसके विनाश से प्रभावित नहीं होता।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

मम—मेरा; **योनिः**—जन्म-स्रोत; **महत्**—सम्पूर्ण भौतिक जगत्; **ब्रह्म**—परम; **तस्मिन्**—उसमें; **गर्भम्**—गर्भ; **दधामि**—उत्पन्न करता हूँ; **अहम्**—मैं; **सम्भवः**—सम्भावना; **सर्व-भूतानाम्**—समस्त जीवों का; **ततः**—तत्पश्चात्; **भवति**—होता है; **भारत**—हे भरत पुत्र।

हे भरतपुत्र! ब्रह्म नामक समग्र भौतिक वस्तु जन्म का स्रोत है और मैं इसी ब्रह्म को गर्भस्थ करता हूँ, जिससे समस्त जीवों का जन्म सम्भव होता है।

तात्पर्य : यह संसार की व्याख्या है—जो कुछ घटित होता है वह *क्षेत्र* (शरीर) तथा *क्षेत्रज्ञ* (आत्मा) के संयोग से होता है। प्रकृति और जीव का यह संयोग स्वयं भगवान् द्वारा सम्भव बनाया जाता है। महत्-तत्त्व ही समग्र ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण कारण है और भौतिक कारण की समग्र वस्तु, जिसमें प्रकृति के तीनों गुण रहते हैं, कभी-कभी ब्रह्म कहलाती है। परमपुरुष इसी समग्र वस्तु को गर्भस्थ करते हैं, जिससे असंख्य ब्रह्माण्ड सम्भव हो सके हैं। वैदिक साहित्य में (*मुण्डक उपनिषद्* १.१.९) इस समग्र भौतिक वस्तु को ब्रह्म कहा गया है—*तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते*। परमपुरुष उस ब्रह्म को जीवों के बीजों के साथ गर्भस्थ करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि चौबीसों तत्त्व भौतिक शक्ति हैं और वे *महद् ब्रह्म* अर्थात् भौतिक प्रकृति के अवयव हैं। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जा चुका है कि इससे परे एक अन्य परा प्रकृति—जीव—होती है। भगवान् की इच्छा से यह परा-प्रकृति भौतिक (अपरा) प्रकृति में मिला दी जाती है, जिसके बाद इस भौतिक प्रकृति से सारे जीव उत्पन्न होते हैं।

बिच्छू अपने अंडे धान के ढेर में देती है और कभी-कभी यह कहा जाता है कि बिच्छू धान से उत्पन्न हुई। लेकिन धान बिच्छू के जन्म का कारण नहीं। वास्तव में अंडे माता बिच्छू ने दिए थे। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति जीवों के जन्म का कारण नहीं होती। बीज भगवान् द्वारा प्रदत्त होता है और वे प्रकृति से उत्पन्न होते प्रतीत होते हैं। इस तरह प्रत्येक जीव को उसके पूर्वकर्मों के अनुसार भिन्न शरीर प्राप्त होता है, जो इस भौतिक प्रकृति द्वारा रचित होता है, जिसके कारण जीव अपने पूर्व कर्मों के अनुसार सुख या दुख भोगता है। इस भौतिक जगत् के जीवों की समस्त अभिव्यक्तियों के कारण भगवान् हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

सर्व-योनिषु—समस्त योनियों में; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **मूर्तयः**—स्वरूप; **सम्भवन्ति**—प्रकट होते हैं; **याः**—जो; **तासाम्**—उन सबों का; **ब्रह्म**—परम; **महत् योनिः**—जन्म स्रोत; **अहम्**—मैं; **बीज-प्रदः**—बीजप्रदाता; **पिता**—पिता।

हे कुन्तीपुत्र! तुम यह समझ लो कि समस्त प्रकार की जीव-योनियाँ इस भौतिक प्रकृति में जन्म द्वारा सम्भव हैं और मैं उनका बीज-प्रदाता पिता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जीवों के आदि पिता हैं। सारे जीव भौतिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक प्रकृति के संयोग हैं। ऐसे जीव केवल इस लोक में ही नहीं, अपितु प्रत्येक लोक में, यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक में भी, जहाँ ब्रह्मा आसीन हैं, पाये जाते हैं। जीव सर्वत्र हैं—पृथ्वी, जल तथा अग्नि के भीतर भी जीव हैं। ये सारे जीव माता भौतिक प्रकृति तथा बीजप्रदाता कृष्ण के द्वारा प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह है कि भौतिक जगत् जीवों को गर्भ में धारण किये है, जो सृष्टिकाल में अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विविध रूपों में प्रकट होते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

सत्त्वम्—सतोगुण; **रजः**—रजोगुण; **तमः**—तमोगुण; **इति**—इस प्रकार; **गुणाः**—गुण; **प्रकृति**—भौतिक प्रकृति से; **सम्भवाः**—उत्पन्न; **निबध्नन्ति**—बाँधते हैं; **महा-बाहो**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; **देहे**—इस शरीर में; **देहिनम्**—जीव को; **अव्ययम्**—नित्य, अविनाशी।

भौतिक प्रकृति तीन गुणों से युक्त है। ये हैं—सतो, रजो तथा तमोगुण। हे महाबाहु अर्जुन! जब शाश्वत जीव प्रकृति के संसर्ग में आता है, तो वह इन गुणों से बँध जाता है।

तात्पर्य : दिव्य होने के कारण जीव को इस भौतिक प्रकृति से कुछ भी लेना-देना नहीं है। फिर भी भौतिक जगत् द्वारा बद्ध हो जाने के कारण वह प्रकृति के तीनों गुणों के जादू के वशीभूत होकर कार्य करता है। चूँकि जीवों को प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर मिले हुए हैं, अतएव वे उसी प्रकृति के अनुसार कर्म करने के लिए प्रेरित होते हैं। यही अनेक प्रकार के सुख-दुख का कारण है।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

तत्र—वहाँ; **सत्त्वम्**—सतोगुण; **निर्मलत्वात्**—भौतिक जगत् में शुद्धतम होने के कारण; **प्रकाशकम्**—प्रकाशित करता हुआ; **अनामयम्**—किसी पापकर्म के बिना; **सुख**—सुख की; **सङ्गेन**—संगति के द्वारा; **बध्नाति**—बाँधता है; **ज्ञान**—ज्ञान की; **सङ्गेन**—संगति से; **च**—भी; **अनघ**—हे पापरहित।

हे निष्पाप! सतोगुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक शुद्ध होने के कारण प्रकाश प्रदान करने वाला और मनुष्यों को सारे पाप कर्मों से मुक्त करने वाला है। जो लोग इस गुण में स्थित होते हैं, वे सुख तथा ज्ञान के भाव से बँध जाते हैं।

तात्पर्य : प्रकृति द्वारा बद्ध किये गये जीव कई प्रकार के होते हैं। कोई सुखी है और कोई अत्यन्त कर्मठ है, तो दूसरा असहाय है। इस प्रकार के मनोभाव ही प्रकृति में जीव की बद्धावस्था के कारणस्वरूप हैं। *भगवद्गीता* के इस अध्याय में इसका वर्णन हुआ है कि वे किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से बद्ध हैं। सर्वप्रथम सतोगुण पर विचार किया गया है। इस जगत् में सतोगुण विकसित करने का लाभ यह होता है कि मनुष्य अन्य बद्धजीवों की तुलना में अधिक चतुर हो जाता है। सतोगुणी पुरुष को भौतिक कष्ट उतना पीड़ित नहीं करते और उसमें भौतिक ज्ञान की प्रगति करने की सूझ होती है। इसका प्रतिनिधि ब्राह्मण है, जो सतोगुणी माना जाता है। सुख का यह भाव इस विचार के कारण है कि सतोगुण में पापकर्मों से प्रायः मुक्त रहा जाता है। वास्तव में वैदिक साहित्य में यह कहा गया है कि सतोगुण का अर्थ ही है अधिक ज्ञान तथा सुख का अधिकाधिक अनुभव।

सारी कठिनाई यह है कि जब मनुष्य सतोगुण में स्थित होता है, तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि वह ज्ञान में आगे है और अन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इस प्रकार वह बद्ध हो जाता है। इसके उदाहरण वैज्ञानिक तथा दार्शनिक हैं। इनमें से प्रत्येक को अपने ज्ञान का गर्व रहता है और चूँकि वे अपने रहन-सहन को सुधार लेते हैं, अतएव उन्हें भौतिक सुख की अनुभूति होती है। बद्ध जीवन में अधिक सुख का यह भाव उन्हें भौतिक प्रकृति के गुणों से बाँध देता है। अतएव वे सतोगुण में रहकर कर्म करने के प्रति आकृष्ट होते हैं। और जब तक इस प्रकार कर्म करते रहने का आकर्षण बना रहता है, तब तक उन्हें किसी न किसी प्रकार का शरीर धारण करना होता है। इस प्रकार उनकी मुक्ति की या वैकुण्ठलोक जाने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। वे बारम्बार दार्शनिक, वैज्ञानिक या कवि बनते रहते हैं और बारम्बार जन्म-मृत्यु के उन्हीं दोषों में बँधते रहते हैं। लेकिन माया-मोह के कारण वे सोचते हैं कि इस प्रकार का जीवन आनन्दप्रद है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

रजो—रजोगुण; **राग-आत्मकम्**—आकांक्षा या काम से उत्पन्न; **विद्धि**—जानो; **तृष्णा**—लोभ से; **सङ्ग**—संगति से; **समुद्भवम्**—उत्पन्न; **तत्**—वह; **निबध्नाति**—बाँधता है; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **कर्म-सङ्गेन**—सकाम कर्म की संगति से; **देहिनम्**—देहधारी को।

हे कुन्तीपुत्र! रजोगुण की उत्पत्ति असीम आकांक्षाओं तथा तृष्णाओं से होती है और इसी के कारण से यह देहधारी जीव सकाम कर्मों से बँध जाता है।

तात्पर्य : रजोगुण की विशेषता है, पुरुष तथा स्त्री का पारस्परिक आकर्षण। स्त्री पुरुष के प्रति और पुरुष स्त्री के प्रति आकर्षित होता है। यह रजोगुण कहलाता है। जब इस रजोगुण में वृद्धि हो जाती है, तो मनुष्य भौतिक भोग के लिए लालायित होता है।

वह इन्द्रियतृप्ति चाहता है। इस इन्द्रियतृप्ति के लिए वह रजोगुणी मनुष्य समाज में या राष्ट्र में सम्मान चाहता है और सुन्दर सन्तान, स्त्री तथा घर सहित सुखी परिवार चाहता है। ये सब रजोगुण के प्रतिफल हैं। जब तक मनुष्य इनकी लालसा करता रहता है, तब तक उसे कठिन श्रम करना पड़ता है। अतः यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य अपने कर्मफलों से सम्बद्ध होकर ऐसे कर्मों से बँध जाता है। अपनी स्त्री, पुत्रों तथा समाज को प्रसन्न करने तथा अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए मनुष्य को कर्म करना होता है। अतएव सारा संसार ही न्यूनाधिक रूप से रजोगुणी है। आधुनिक सभ्यता में रजोगुण का मानदण्ड ऊँचा है। प्राचीन काल में सतोगुण को उच्च अवस्था माना जाता था। यदि सतोगुणी लोगों को मुक्ति नहीं मिल पाती, तो जो रजोगुणी हैं उनके विषय में क्या कहा जाये?

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

तमः—तमोगुण; **तु**—लेकिन; **अज्ञान-जम्**—अज्ञान से उत्पन्न; **विद्धि**—जानो; **मोहनम्**—मोह; **सर्व-देहिनाम्**—समस्त देहधारी जीवों का; **प्रमाद**—पागलपन; **आलस्य**—आलस; **निद्राभिः**—तथा नींद द्वारा; **तत्**—वह; **निबध्नाति**—बाँधता है; **भारत**—हे भरतपुत्र।

हे भरतपुत्र! तुम जान लो कि अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण समस्त देहधारी जीवों का मोह है। इस गुण के प्रतिफल पागलपन (प्रमाद), आलस तथा नींद हैं, जो बद्धजीव को बाँधते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तु* शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है। इसका अर्थ है कि तमोगुण देहधारी जीव का अत्यन्त विचित्र गुण है। यह सतोगुण के सर्वथा विपरीत है। सतोगुण में ज्ञान के विकास से मनुष्य यह जान सकता है कि कौन क्या है, लेकिन तमोगुण तो इसके सर्वथा विपरीत होता है। जो भी तमोगुण के फेर में पड़ता है, वह पागल हो जाता है और पागल पुरुष यह नहीं समझ पाता कि कौन क्या है। वह प्रगति करने के बजाय अधोगति को प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में तमोगुण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—*वस्तुयाथात्म्यज्ञानावरकं विपर्ययज्ञानजनकं तमः*—अज्ञान के वशीभूत होने पर कोई मनुष्य किसी वस्तु को यथारूप में नहीं समझ पाता। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति देखता है कि उसका बाबा मरा है, अतएव वह भी मरेगा, मनुष्य मर्त्य है। उसकी सन्तानें भी मरेंगी। अतएव मृत्यु ध्रुव है। फिर भी लोग पागल होकर धन संग्रह करते हैं और नित्य आत्मा की चिन्ता किये बिना अहर्निश कठोर श्रम करते रहते हैं। यह पागलपन ही तो है। अपने पागलपन में वे आध्यात्मिक ज्ञान में कोई उन्नति नहीं कर पाते। ऐसे लोग अत्यन्त आलसी होते हैं। जब उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया जाता है, तो वे अधिक रुचि नहीं दिखाते। वे रजोगुणी व्यक्ति की तरह भी सक्रिय नहीं रहते। अतएव तमोगुण में लिप्त व्यक्ति का एक अन्य गुण यह भी है कि वह आवश्यकता से अधिक सोता है। छह घंटे की नींद पर्याप्त है, लेकिन ऐसा व्यक्ति दिन भर में दस-बारह घंटे तक सोता है। ऐसा व्यक्ति सदैव निराश प्रतीत होता है और

भौतिक द्रव्यों तथा निद्रा के प्रति व्यसनी बन जाता है। ये हैं तमोगुणी व्यक्ति के लक्षण।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

सत्त्वम्—सतोगुण; **सुखे**—सुख में; **सञ्जयति**—बाँधता है; **रजः**—रजोगुण; **कर्मणि**—सकाम कर्म में; **भारत**—हे भरतपुत्र; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **आवृत्य**—ढक कर; **तु**—लेकिन; **तमः**—तमोगुण; **प्रमादे**—पागलपन में; **सञ्जयति**—बाँधता है; **उत**—ऐसा कहा जाता है।

हे भरतपुत्र! सतोगुण मनुष्य को सुख से बाँधता है, रजोगुण सकाम कर्म से बाँधता है और तमोगुण मनुष्य के ज्ञान को ढक कर उसे पागलपन से बाँधता है।

तात्पर्य : सतोगुणी पुरुष अपने कर्म या बौद्धिक वृत्ति से उसी तरह सन्तुष्ट रहता है, जिस प्रकार दार्शनिक, वैज्ञानिक या शिक्षक अपनी अपनी विद्याओं में निरत रहकर सन्तुष्ट रहते हैं। रजोगुणी व्यक्ति सकाम कर्म में लग सकता है, वह यथासम्भव धन प्राप्त करके उसे उत्तम कार्यों में व्यय करता है। कभी-कभी वह अस्पताल खोलता है और धर्मार्थ संस्थाओं को दान देता है। ये लक्षण हैं, रजोगुणी व्यक्ति के, लेकिन तमोगुण तो ज्ञान को ढक लेता है। तमोगुण में रहकर मनुष्य जो भी करता है, वह न तो उसके लिए, न किसी अन्य के लिए हितकर होता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

रजः—रजोगुण; **तमः**—तमोगुण को; **च**—भी; **अभिभूय**—पार करके; **सत्त्वम्**—सतोगुण; **भवति**—प्रधान बनता है; **भारत**—हे भरतपुत्र; **रजः**—रजोगुण; **सत्त्वम्**—सतोगुण को; **तमः**—तमोगुण; **च**—भी; **एव**—उसी तरह; **तमः**—तमोगुण; **सत्त्वम्**—सतोगुण को; **रजः**—रजोगुण; **तथा**—इस प्रकार।

हे भरतपुत्र! कभी-कभी सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण को परास्त करके प्रधान बन जाता है तो कभी रजोगुण सतो तथा तमोगुणों को परास्त कर देता है और कभी ऐसा होता है कि तमोगुण सतो तथा रजोगुणों को परास्त कर देता है। इस प्रकार श्रेष्ठता के लिए निरन्तर स्पर्धा चलती रहती है।

तात्पर्य : जब रजोगुण प्रधान होता है, तो सतो तथा तमोगुण परास्त रहते हैं। जब सतोगुण प्रधान होता है तो रजो तथा तमोगुण परास्त हो जाते हैं। जब तमोगुण प्रधान होता है तो रजो तथा सतोगुण परास्त हो जाते हैं। यह प्रतियोगिता निरन्तर चलती रहती है। अतएव जो कृष्णभावनामृत में वास्तव में उन्नति करने का इच्छुक है, उसे इन तीनों गुणों को लाँघना पड़ता है। प्रकृति के किसी एक गुण की प्रधानता मनुष्य के आचरण में, उसके कार्यकलापों में, उसके खान-पान आदि में प्रकट होती रहती है। इन सबकी व्याख्या अगले अध्यायों में की जाएगी। लेकिन यदि कोई चाहे तो वह अभ्यास द्वारा सतोगुण विकसित कर सकता है और इस प्रकार रजो तथा तमोगुणों को परास्त कर सकता है। इस प्रकार से रजोगुण विकसित करके तमो तथा सतो गुणों को परास्त कर

सकता है। अथवा कोई चाहे तो वह तमोगुण को विकसित करके रजो तथा सतोगुणों को परास्त कर सकता है। यद्यपि प्रकृति के ये तीन गुण होते हैं, किन्तु यदि कोई संकल्प कर ले तो उसे सतोगुण का आशीर्वाद तो मिल ही सकता है और वह इसे लाँघ कर शुद्ध सतोगुण में स्थित हो सकता है, जिसे *वासुदेव* अवस्था कहते हैं, जिसमें वह ईश्वर के विज्ञान को समझ सकता है। विशिष्ट कार्यों को देख कर ही समझा जा सकता है कि कौन व्यक्ति किस गुण में स्थित है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

सर्व-द्वारेषु—सारे दरवाजों में; **देहे अस्मिन्**—इस शरीर में; **प्रकाशः**—प्रकाशित करने का गुण; **उपजायते**—उत्पन्न होता है; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **यदा**—जब; **तदा**—उस समय; **विद्यात्**—जानो; **विवृद्धम्**—बढ़ा हुआ; **सत्त्वम्**—सतोगुण; **इति उत**—ऐसा कहा गया है।

सतोगुण की अभिव्यक्ति को तभी अनुभव किया जा सकता है, जब शरीर के सारे द्वार ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं।

तात्पर्य : शरीर में नौ द्वार हैं—दो आँखें, दो कान, दो नथुने, मुँह, गुदा तथा उपस्थ। जब प्रत्येक द्वार सत्त्व के लक्षण से दीपित हो जायें, तो समझना चाहिए कि उसमें सतोगुण विकसित हो चुका है। सतोगुण में सारी वस्तुएँ अपनी सही स्थिति में दिखती हैं, सही-सही सुनाई पड़ता है और सही ढंग से उन वस्तुओं का स्वाद मिलता है। मनुष्य का अन्तः तथा बाह्य शुद्ध हो जाता है। प्रत्येक द्वार में सुख के लक्षण उत्पन्न दिखते हैं और यही स्थिति होती है सत्त्वगुण की।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

लोभः—लोभ; **प्रवृत्तिः**—कार्य; **आरम्भः**—उद्यम; **कर्मणाम्**—कर्मों में; **अशमः**—अनियन्त्रित; **स्पृहा**—इच्छा; **रजसि**—रजोगुण में; **एतानि**—ये सब; **जायन्ते**—प्रकट होते हैं; **विवृद्धे**—अधिकता होने पर; **भरत-ऋषभ**—हे भरतवंशियों में प्रमुख।

हे भरतवंशियों में प्रमुख! जब रजोगुण में वृद्धि हो जाती है, तो अत्यधिक आसक्ति, सकाम कर्म, गहन उद्यम तथा अनियन्त्रित इच्छा एवं लालसा के लक्षण प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : रजोगुणी व्यक्ति कभी भी पहले से प्राप्त पद से संतुष्ट नहीं होता, वह अपना पद बढ़ाने के लिए लालायित रहता है। यदि उसे मकान बनवाना है, तो वह महल बनवाने के लिए भरसक प्रयत्न करता है, मानो वह उस महल में सदा रहेगा। वह इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अत्यधिक लालसा विकसित कर लेता है। उसमें इन्द्रियतृप्ति की कोई सीमा नहीं है। वह सदैव अपने परिवार के बीच तथा अपने घर में रह कर इन्द्रियतृप्ति करते रहना चाहता है। इसका कोई अन्त नहीं है। इन सारे लक्षणों को रजोगुण की विशेषता मानना चाहिए।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

अप्रकाशः—अँधेरा; **अप्रवृत्तिः**—निष्क्रियता; **च**—तथा; **प्रमादः**—पागलपन; **मोहः**—मोह; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **तमसि**—तमोगुण; **एतानि**—ये; **जायन्ते**—प्रकट होते हैं; **विवृद्धे**—बढ़ जाने पर; **कुरु-नन्दन**—हे कुरुपुत्र।

जब तमोगुण में वृद्धि हो जाती है, तो हे कुरुपुत्र! अँधेरा, जड़ता, प्रमत्तता तथा मोह का प्राकट्य होता है।

तात्पर्य : जहाँ प्रकाश नहीं होता, वहाँ ज्ञान अनुपस्थित रहता है। तमोगुणी व्यक्ति किसी नियम में बँधकर कार्य नहीं करता। वह अकारण ही अपनी सनक के अनुसार कार्य करना चाहता है। यद्यपि उसमें कार्य करने की क्षमता होती है, किन्तु वह परिश्रम नहीं करता। यह मोह कहलाता है। यद्यपि चेतना रहती है, लेकिन जीवन निष्क्रिय रहता है। ये तमोगुण के लक्षण हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

यदा—जब; **सत्त्वे**—सतोगुण में; **प्रवृद्धे**—बढ़ जाने पर; **तु**—लेकिन; **प्रलयम्**—संहार, विनाश को; **याति**—जाता है; **देह-भृत्**—देहधारी; **तदा**—उस समय; **उत्तम-विदाम्**—ऋषियों के; **लोकान्**—लोकों को; **अमलान्**—शुद्ध; **प्रतिपद्यते**—प्राप्त करता है।

जब कोई सतोगुण में मरता है, तो उसे महर्षियों के विशुद्ध उच्चतर लोकों की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : सतोगुणी व्यक्ति ब्रह्मलोक या जनलोक जैसे उच्च लोकों को प्राप्त करता है और वहाँ दैवी सुख भोगता है। *अमलान्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, "रजो तथा तमोगुणों से मुक्त"। भौतिक जगत् में अशुद्धियाँ हैं, लेकिन सतोगुण सर्वाधिक शुद्ध रूप है। विभिन्न जीवों के लिए विभिन्न प्रकार के लोक हैं। जो लोग सतोगुण में मरते हैं, वे उन लोकों को जाते हैं, जहाँ महर्षि तथा महान भक्तगण रहते हैं।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

रजसि—रजोगुण में; **प्रलयम्**—प्रलय को; **गत्वा**—प्राप्त करके; **कर्म-सङ्गिषु**—सकाम कर्मियों की संगति में; **जायते**—जन्म लेता है; **तथा**—उसी प्रकार; **प्रलीनः**—विलीन होकर; **तमसि**—अज्ञान में; **मूढ-योनिषु**—पशुयोनि में; **जायते**—जन्म लेता है।

जब कोई रजोगुण में मरता है, तो वह सकाम कर्मियों के बीच में जन्म ग्रहण करता है और जब कोई तमोगुण में मरता है, तो वह पशुयोनि में जन्म धारण करता है।

तात्पर्य : कुछ लोगों का विचार है कि एक बार मनुष्य जीवन को प्राप्त करके आत्मा कभी नीचे नहीं गिरता। यह ठीक नहीं है। इस श्लोक के अनुसार, यदि कोई तमोगुणी बन जाता है, तो वह मृत्यु के बाद पशुयोनि को प्राप्त होता है। वहाँ से मनुष्य को विकास प्रक्रम द्वारा पुनः मनुष्य जीवन तक आना पड़ता है। अतएव जो लोग मनुष्य जीवन के विषय में सचमुच चिन्तित हैं, उन्हें सतोगुणी बनना चाहिए और अच्छी संगति में रहकर गुणों को लाँघ कर कृष्णभावनामृत में स्थित होना चाहिए। यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। अन्यथा इसकी कोई गारंटी (निश्चितता) नहीं कि मनुष्य को फिर से मनुष्ययोनि प्राप्त हो।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

कर्मणः—कर्म का; **सु-कृतस्य**—पुण्य; **आहुः**—कहा गया है; **सात्त्विकम्**—सात्त्विक; **निर्मलम्**—विशुद्ध; **फलम्**—फल; **रजसः**—रजोगुण का; **तु**—लेकिन; **फलम्**—फल; **दुःखम्**—दुख; **अज्ञानम्**—व्यर्थ; **तमसः**—तमोगुण का; **फलम्**—फल।

पुण्यकर्म का फल शुद्ध होता है और सात्त्विक कहलाता है। लेकिन रजोगुण में सम्पन्न कर्म का फल दुख होता है और तमोगुण में किये गये कर्म मूर्खता में प्रतिफलित होते हैं।

तात्पर्य : सतोगुण में किये गये पुण्यकर्मों का फल शुद्ध होता है, अतएव वे मुनिगण, जो समस्त मोह से मुक्त हैं, सुखी रहते हैं। लेकिन रजोगुण में किये गये कर्म दुख के कारण बनते हैं। भौतिकसुख के लिए जो भी कार्य किया जाता है, उसका विफल होना निश्चित है। उदाहरणार्थ, यदि कोई गगनचुम्बी प्रासाद बनवाना चाहता है, तो उसके बनने के पूर्व अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है। मालिक को धन-संग्रह के लिए कष्ट उठाना पड़ता है और प्रासाद बनाने वाले श्रमियों को शारीरिक श्रम करना होता है। इस प्रकार कष्ट तो होते ही हैं। अतएव *भगवद्गीता* का कथन है कि रजोगुण के अधीन होकर जो भी कर्म किया जाता है, उसमें निश्चित रूप से महान कष्ट भोगने होते हैं। इससे यह मानसिक तुष्टि हो सकती है कि मैंने यह मकान बनवाया या इतना धन कमाया, लेकिन यह कोई वास्तविक सुख नहीं है। जहाँ तक तमोगुण का सम्बन्ध है, कर्ता को कुछ ज्ञान नहीं रहता, अतएव उसके समस्त कार्य उस समय दुखदायक होते हैं और बाद में उसे पशु जीवन में जाना होता है। पशु जीवन सदैव दुखमय है, यद्यपि माया के वशीभूत होकर वे इसे समझ नहीं पाते। पशुओं का वध भी तमोगुण के कारण है। पशु-वधिक यह नहीं जानते कि भविष्य में इस पशु को ऐसा शरीर प्राप्त होगा, जिससे वह उनका वध करेगा। यही प्रकृति का नियम है। मानव समाज में यदि कोई किसी मनुष्य का वध कर दे तो उसे प्राणदण्ड मिलता है। यह राज्य का नियम है। अज्ञानवश लोग यह अनुभव नहीं करते कि परमेश्वर द्वारा नियन्त्रित एक पूरा राज्य है। प्रत्येक जीवित प्राणी परमेश्वर की सन्तान है और उन्हें एक चींटी तक का मारा जाना सह्य नहीं है। इसके लिए मनुष्य को दण्ड भोगना पड़ता है। अतएव स्वाद के लिए पशु-वध में रत रहना घोर अज्ञान है।

मनुष्य को पशुओं के वध की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर ने अनेक अच्छी वस्तुएँ प्रदान कर रखी हैं। यदि कोई किसी कारण से मांसाहार करता है, तो यह समझना चाहिए कि वह अज्ञानवश ऐसा कर रहा है और अपने भविष्य को अंधकारमय बना रहा है। समस्त प्रकार के पशुओं में से गोवध सर्वाधिक अधम है, क्योंकि गाय हमें दूध देकर सभी प्रकार का सुख प्रदान करने वाली है। गोवध एक प्रकार से सबसे अधम कर्म है। वैदिक साहित्य में (*ऋग्वेद* ९.४.६४) *गोभिः प्रीणित-मत्सरम्* सूचित करता है कि जो व्यक्ति दूध पीकर गाय को मारना चाहता है, वह सबसे बड़े अज्ञान में रहता है। वैदिक ग्रन्थों में (*विष्णु-पुराण* १.१९.६५) एक प्रार्थना भी है, जो इस प्रकार है—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

"हे प्रभु! आप गायों तथा ब्राह्मणों के हितैषी हैं और आप समस्त मानव समाज तथा विश्व के हितैषी हैं।" तात्पर्य यह है कि इस प्रार्थना में गायों तथा ब्राह्मणों की रक्षा का विशेष उल्लेख है। ब्राह्मण आध्यात्मिक शिक्षा के प्रतीक हैं और गाएँ महत्त्वपूर्ण भोजन की, अतएव इन दोनों जीवों, ब्राह्मणों तथा गायों, को पूरी सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। यही सभ्यता की वास्तविक प्रगति है। आधुनिक मानव समाज में आध्यात्मिक ज्ञान की उपेक्षा की जाती है और गोवध को प्रोत्साहित किया जाता है। इससे यही ज्ञात होता है कि मानव-समाज विपरीत दिशा में जा रहा है और अपनी भर्त्सना का पथ प्रशस्त कर रहा है। जो सभ्यता अपने नागरिकों को अगले जन्मों में पशु बनने के लिए मार्गदर्शन करती हो, वह निश्चित रूप से मानव सभ्यता नहीं है। निस्सन्देह, आधुनिक मानव-सभ्यता रजोगुण तथा तमोगुण के कारण कुमार्ग पर जा रही है। यह अत्यन्त घातक युग है और समस्त राष्ट्रों को चाहिए कि मानवता को महानतम संकट से बचाने के लिए कृष्णभावनामृत की सरलतम विधि प्रदान करें।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

सत्त्वात्—सतोगुण से; **सञ्जायते**—उत्पन्न होता है; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **रजसः**—रजोगुण से; **लोभः**—लालच; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **प्रमाद**—पागलपन; **मोहौ**—तथा मोह; **तमसः**—तमोगुण से; **भवतः**—होता है; **अज्ञानम्**—अज्ञान; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी।

सतोगुण से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुण से अज्ञान, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : चूँकि वर्तमान सभ्यता जीवों के लिए अधिक अनुकूल नहीं है, अतएव उनके लिए कृष्णभावनामृत की संस्तुति की जाती है। कृष्णभावनामृत के माध्यम से समाज में सतोगुण विकसित होगा। सतोगुण विकसित हो जाने पर लोग वस्तुओं को असली रूप में देख सकेंगे। तमोगुण में रहने वाले लोग पशु-तुल्य होते हैं और वे वस्तुओं को स्पष्ट रूप में नहीं देख पाते। उदाहरणार्थ, तमोगुण में रहने के कारण लोग यह नहीं देख पाते कि जिस पशु का वे वध कर रहे हैं, उसी के द्वारा वे अगले जन्म में मारे जाएँगे।

वास्तविक ज्ञान की शिक्षा न मिलने के कारण वे अनुत्तरदायी बन जाते हैं। इस उच्छृंखलता को रोकने के लिए जनता में सतोगुण उत्पन्न करने वाली शिक्षा देना आवश्यक है। सतोगुण में शिक्षित हो जाने पर वे गम्भीर बनेंगे और वस्तुओं को उनके सही रूप में जान सकेंगे। तब लोग सुखी तथा सम्पन्न हो सकेंगे। भले ही अधिकांश लोग सुखी तथा समृद्ध न बन पायें, लेकिन यदि जनता का कुछ भी अंश कृष्णभावनामृत विकसित कर लेता है और सतोगुणी बन जाता है, तो सारे विश्व में शान्ति तथा सम्पन्नता की सम्भावना है। नहीं तो, यदि विश्व के लोग रजोगुण तथा तमोगुण में लगे रहे तो शान्ति और सम्पन्नता नहीं रह पायेगी। रजोगुण में लोग लोभी बन जाते हैं और इन्द्रिय-भोग की उनकी लालसा की कोई सीमा नहीं होती। कोई भी यह देख सकता है कि भले ही किसी के पास प्रचुर धन तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए पर्याप्त साधन हों, लेकिन उसे न तो सुख मिलता है, न मनःशान्ति। ऐसा संभव भी नहीं है, क्योंकि वह रजोगुण में स्थित है। यदि कोई रंचमात्र भी सुख चाहता है, तो धन उसकी सहायता नहीं कर सकता, उसे कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा अपने आपको सतोगुण में स्थित करना होगा। जब कोई रजोगुण में रत रहता है, तो वह मानसिक रूप से ही अप्रसन्न नहीं रहता अपितु उसकी वृत्ति तथा उसका व्यवसाय भी अत्यन्त कष्टकारक होते हैं। उसे अपनी मर्यादा बनाये रखने के लिए अनेकानेक योजनाएँ बनानी होती हैं। यह सब कष्टकारक है। तमोगुण में लोग पागल (प्रमत्त) हो जाते हैं। अपनी परिस्थितियों से ऊब कर के मद्य-सेवन की शरण ग्रहण करते हैं और इस प्रकार वे अज्ञान के गर्त में अधिकाधिक गिरते हैं। जीवन में उनका भविष्य-जीवन अन्धकारमय होता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

ऊर्ध्वम्—ऊपर; **गच्छन्ति**—जाते हैं; **सत्त्व-स्थाः**—जो सतोगुण में स्थित हैं; **मध्ये**—मध्य में; **तिष्ठन्ति**—निवास करते हैं; **राजसाः**—रजोगुणी; **जघन्य**—गर्हित; **गुण**—गुण; **वृत्ति-स्थाः**—जिनकी वृत्तियाँ या व्यवसाय; **अधः**—नीचे, निम्न; **गच्छन्ति**—जाते हैं; **तामसाः**—तमोगुणी लोग।

सतोगुणी व्यक्ति क्रमशः उच्च लोकों को ऊपर जाते हैं, रजोगुणी इसी पृथ्वीलोक में रह जाते हैं, और जो अत्यन्त गर्हित तमोगुण में स्थित हैं, वे नीचे नरक लोकों को जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में तीनों गुणों के कर्मों के फल को स्पष्ट रूप से बताया गया है। ऊपर के लोकों या स्वर्गलोकों में, प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त उन्नत होता है। जीवों में जिस मात्रा में सतोगुण का विकास होता है, उसी के अनुसार उसे विभिन्न स्वर्ग-लोकों में भेजा जाता है। सर्वोच्च-लोक सत्य-लोक या ब्रह्मलोक है, जहाँ इस ब्रह्माण्ड के प्रधान व्यक्ति, ब्रह्माजी निवास करते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि ब्रह्मलोक में जिस प्रकार जीवन की आश्चर्यजनक परिस्थिति है, उसका अनुमान करना कठिन है। तो भी सतोगुण नामक जीवन की सर्वोच्च अवस्था हमें वहाँ तक पहुँचा सकती है।

रजोगुण मिश्रित होता है। यह सतो तथा तमोगुणों के मध्य में होता है। मनुष्य सदैव

शुद्ध नहीं होता, लेकिन यदि वह पूर्णतया रजोगुणी हो, तो वह इस पृथ्वी पर केवल राजा या धनी व्यक्ति के रूप में रहता है। लेकिन गुणों का मिश्रण होते रहने से वह नीचे भी जा सकता है। इस पृथ्वी पर रजो या तमोगुणी लोग बलपूर्वक किसी मशीन के द्वारा उच्चतर-लोकों में नहीं पहुँच सकते। रजोगुण में इसकी भी सम्भावना है कि अगले जीवन में कोई प्रमत्त हो जाये।

यहाँ पर निम्नतम गुण, तमोगुण, को अत्यन्त गर्हित (जघन्य) कहा गया है। अज्ञानता (तमोगुण) विकसित करने का परिणाम अत्यन्त भयावह होता है। यह प्रकृति का निम्नतम गुण है। मनुष्य-योनि से नीचे पक्षियों, पशुओं, सरीसृपों, वृक्षों आदि की अस्सी लाख योनियाँ हैं, और तमोगुण के विकास के अनुसार ही लोगों को ये अधम योनियाँ प्राप्त होती रहती हैं। यहाँ पर *तामसाः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। यह उनका सूचक है, जो उच्चतर गुणों तक ऊपर न उठ कर निरन्तर तमोगुण में ही बने रहते हैं। उनका भविष्य अत्यन्त अंधकारमय होता है।

तमोगुणी तथा रजोगुणी लोगों के लिए सतोगुणी बनने का सुअवसर है और यह कृष्णभावनामृत विधि से मिल सकता है। लेकिन जो इस सुअवसर का लाभ नहीं उठाता, वह निम्नतर गुणों में बना रहेगा।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

न—नहीं; **अन्यम्**—दूसरा; **गुणेभ्यः**—गुणों के अतिरिक्त; **कर्तारम्**—कर्ता; **यदा**—जब; **द्रष्टा**—देखने वाला; **अनुपश्यति**—ठीक से देखता है; **गुणेभ्यः**—गुणों से; **च**—तथा; **परम्**—दिव्य; **वेत्ति**—जानता है; **मत्-भावम्**—मेरे दिव्य स्वभाव को; **सः**—वह; **अधिगच्छति**—प्राप्त होता है।

जब कोई यह अच्छी तरह जान लेता है कि समस्त कार्यों में प्रकृति के तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है और जब वह परमेश्वर को जान लेता है, जो इन तीनों गुणों से परे है, तो वह मेरे दिव्य स्वभाव को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : समुचित महापुरुषों से केवल समझकर तथा समुचित ढंग से सीख कर मनुष्य प्रकृति के गुणों के सारे कार्यकलापों को लाँघ सकता है। वास्तविक गुरु कृष्ण हैं और वे अर्जुन को यह दिव्य ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। इसी प्रकार जो लोग पूर्णतया कृष्णभावना-भावित हैं, उन्हीं से प्रकृति के गुणों के कार्यों के इस ज्ञान को सीखना होता है। अन्यथा मनुष्य का जीवन कुमार्ग में चला जाता है। प्रामाणिक गुरु के उपदेश से जीव अपनी आध्यात्मिक स्थिति, अपने भौतिक शरीर, अपनी इन्द्रियों, तथा प्रकृति के गुणों के अपनी बद्धावस्था होने के बारे में जान सकता है। वह इन गुणों की जकड़ में होने से असहाय होता है लेकिन अपनी वास्तविक स्थिति देख लेने पर वह दिव्य स्तर को प्राप्त कर सकता है, जिसमें आध्यात्मिक जीवन के लिए अवकाश होता है। वस्तुतः जीव विभिन्न कर्मों का कर्ता नहीं होता। उसे बाध्य होकर कर्म करना पड़ता है, क्योंकि वह विशेष प्रकार के शरीर में स्थित रहता है, जिसका संचालन प्रकृति का कोई गुण करता है। जब तक मनुष्य को किसी आध्यात्मिक मान्यता प्राप्त व्यक्ति की सहायता नहीं मिलती, तब तक वह यह

नहीं समझ सकता कि वह वास्तव में कहाँ स्थित है। प्रामाणिक गुरु की संगति से वह अपनी वास्तविक स्थिति समझ सकता है और इसे समझ लेने पर, वह पूर्ण कृष्णभावनामृत में स्थिर हो सकता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी प्रकृति के गुणों के चमत्कार से नियन्त्रित नहीं होता। सातवें अध्याय में बताया जा चुका है कि जो कृष्ण की शरण में जाता है, वह प्रकृति के कार्यों से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति वस्तुओं को यथारूप में देख सकता है, उस पर प्रकृति का प्रभाव क्रमशः घटता जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

गुणान्—गुणों को; **एतान्**—इन सब; **अतीत्य**—लाँघ कर; **त्रीन्**—तीन; **देही**—देहधारी; **देह**—शरीर; **समुद्भवान्**—उत्पन्न; **जन्म**—जन्म; **मृत्यु**—मृत्यु; **जरा**—बुढ़ापे का; **दुःखैः**—दुखों से; **विमुक्तः**—मुक्त; **अमृतम्**—अमृत; **अश्नुते**—भोगता है।

जब देहधारी जीव भौतिक शरीर से सम्बद्ध इन तीनों गुणों को लाँघने में समर्थ होता है, तो वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा उनके कष्टों से मुक्त हो सकता है और इसी जीवन में अमृत का भोग कर सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि किस प्रकार इसी शरीर में कृष्णभावनाभावित होकर दिव्य स्थिति में रहा जा सकता है। संस्कृत शब्द *देही* का अर्थ है देहधारी। यद्यपि मनुष्य इस भौतिक शरीर के भीतर रहता है, लेकिन अपने आध्यात्मिक ज्ञान की उन्नति के द्वारा वह प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। वह इसी शरीर में आध्यात्मिक जीवन का सुखोपभोग कर सकता है, क्योंकि इस शरीर के बाद उसका वैकुण्ठ जाना निश्चित है। लेकिन वह इसी शरीर में आध्यात्मिक सुख उठा सकता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत में भक्ति करना भव-पाश से मुक्ति का संकेत है और अध्याय १८ में इसकी व्याख्या की जायेगी। जब मनुष्य प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, तो वह भक्ति में प्रविष्ट होता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुनःउवाच—अर्जुन ने कहा; **कैः**—किन; **लिङ्गैः**—लक्षणों से; **त्रीन्**—तीनों; **गुणान्**—गुणों को; **एतान्**—ये सब; **अतीतः**—लाँघा हुआ; **भवति**—है; **प्रभो**—हे प्रभु; **किम्**—क्या; **आचारः**—आचरण; **कथम्**—कैसे; **च**—भी; **एतान्**—ये; **त्रीन्**—तीनों; **गुणान्**—गुणों को; **अतिवर्तते**—लाँघता है।

अर्जुन ने पूछा—हे भगवान्! जो इन तीनों गुणों से परे है, वह किन लक्षणों के द्वारा जाना जाता है? उसका आचरण कैसा होता है? और वह प्रकृति के गुणों को किस प्रकार लाँघता है?

तात्पर्य : इस श्लोक में अर्जुन के प्रश्न अत्यन्त उपयुक्त हैं। वह उस पुरुष के लक्षण

जानना चाहता है, जिसने भौतिक गुणों को लाँघ लिया है। सर्वप्रथम वह ऐसे दिव्य पुरुष के लक्षणों के विषय में जिज्ञासा करता है कि कोई कैसे समझे कि उसने प्रकृति के गुणों के प्रभाव को लाँघ लिया है? उसका दूसरा प्रश्न है कि ऐसा व्यक्ति किस प्रकार रहता है और उसके कार्यकलाप क्या हैं? क्या वे नियमित होते हैं, या अनियमित? फिर अर्जुन उन साधनों के विषय में पूछता है, जिससे वह दिव्य स्वभाव (प्रकृति) प्राप्त कर सके। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब तक कोई उन प्रत्यक्ष साधनों को नहीं जानता, जिनसे वह सदैव दिव्य पद पर स्थित रहे, तब तक लक्षणों के दिखने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव अर्जुन द्वारा पूछे गये ये सारे प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और भगवान् उनका उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **प्रकाशम्**—प्रकाश; **च**—तथा; **प्रवृत्तिम्**—आसक्ति; **च**—तथा; **मोहम्**—मोह; **एव च**—भी; **पाण्डव**—हे पाण्डुपुत्र; **न द्वेष्टि**—घृणा नहीं करता; **सम्प्रवृत्तानि**—यद्यपि विकसित होने पर; **न निवृत्तानि**—न ही विकास के रुकने पर; **काङ्क्षति**—चाहता है; **उदासीन-वत्**—निरपेक्ष की भाँति; **आसीनः**—स्थित; **गुणैः**—गुणों के द्वारा; **यः**—जो; **न**—कभी नहीं; **विचाल्यते**—विचलित होता है; **गुणाः**—गुण; **वर्तन्ते**—कार्यशील होते हैं; **इति एवम्**—इस प्रकार जानते हुए; **यः**—जो; **अवतिष्ठति**—रहा आता है; **न**—कभी नहीं; **इङ्गते**—हिलता डुलता है; **सम**—समान; **दुःखः**—दुख; **सुखः**—तथा सुख में; **स्व-स्थः**—अपने में स्थित; **सम**—समान रूप से; **लोष्ट**—मिट्टी का ढेला; **अश्म**—पत्थर; **काञ्चनः**—सोना; **तुल्य**—समभाव; **प्रिय**—प्रिय; **अप्रियः**—तथा अप्रिय को; **धीरः**—धीर; **तुल्य**—समान; **निन्दा**—बुराई; **आत्म-संस्तुतिः**—तथा अपनी प्रशंसा में; **मान**—सम्मान; **अपमानयोः**—तथा अपमान में; **तुल्यः**—समान; **तुल्यः**—समान; **मित्र**—मित्र; **अरि**—तथा शत्रु के; **पक्षयोः**—पक्षों या दलों को; **सर्व**—सबों का; **आरम्भ**—प्रयत्न, उद्यम; **परित्यागी**—त्याग करने वाला; **गुण-अतीतः**—प्रकृति के गुणों से परे; **सः**—वह; **उच्यते**—कहा जाता है।

भगवान् ने कहा—हे पाण्डुपुत्र! जो प्रकाश, आसक्ति तथा मोह के उपस्थित होने पर न तो उनसे घृणा करता है और न लुप्त हो जाने पर उनकी इच्छा करता है, जो भौतिक गुणों की इन समस्त प्रतिक्रियाओं से निश्चल तथा अविचलित रहता है और यह जानकर कि केवल गुण ही क्रियाशील हैं, उदासीन तथा दिव्य बना रहता है, जो अपने आपमें स्थित है और सुख तथा दुख को एकसमान मानता है, जो मिट्टी

के ढेले, पत्थर एवं स्वर्ण के टुकड़े को समान दृष्टि से देखता है, जो अनुकूल तथा प्रतिकूल के प्रति समान बना रहता है, जो धीर है और प्रशंसा तथा बुराई, मान तथा अपमान में समान भाव से रहता है, जो शत्रु तथा मित्र के साथ समान व्यवहार करता है और जिसने सारे भौतिक कार्यों का परित्याग कर दिया है, ऐसे व्यक्ति को प्रकृति के गुणों से अतीत कहते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से तीन प्रश्न पूछे और उन्होंने क्रमशः एक-एक का उत्तर दिया। इन श्लोकों में कृष्ण पहले यह संकेत करते हैं कि जो व्यक्ति दिव्य पद पर स्थित है, वह न तो किसी से ईर्ष्या करता है और न किसी वस्तु के लिए लालायित रहता है। जब कोई जीव इस संसार में भौतिक शरीर से युक्त होकर रहता है, तो यह समझना चाहिए कि वह प्रकृति के तीन गुणों में से किसी एक के वश में है। जब वह इस शरीर से बाहर हो जाता है, तो वह प्रकृति के गुणों से छूट जाता है। लेकिन जब तक वह शरीर से बाहर नहीं आ जाता, तब तक उसे उदासीन रहना चाहिए। उसे भगवान् की भक्ति में लग जाना चाहिए जिससे भौतिक देह से उसका ममत्व स्वतः विस्मृत हो जाय। जब मनुष्य भौतिक शरीर के प्रति सचेत रहता है तो वह केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है, लेकिन जब वह अपनी चेतना कृष्ण में स्थानान्तरित कर देता है, तो इन्द्रियतृप्ति स्वतः रुक जाती है। मनुष्य को इस भौतिक शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती है और न उसे इस भौतिक शरीर के आदेशों का पालन करने की आवश्यकता रह जाती है। शरीर के भौतिक गुण कार्य करेंगे, लेकिन आत्मा ऐसे कार्यों से पृथक् रहेगा। वह किस तरह पृथक् होता है? वह न तो शरीर का भोग करना चाहता है, न उससे बाहर जाना चाहता है। इस प्रकार दिव्य पद पर स्थित भक्त स्वयमेव मुक्त हो जाता है। उसे प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त होने के लिए किसी प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

अगला प्रश्न दिव्य पद पर आसीन व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में है। भौतिक पद पर स्थित व्यक्ति शरीर को मिलने वाले तथाकथित मान तथा अपमान से प्रभावित होता है, लेकिन दिव्य पद पर आसीन व्यक्ति कभी ऐसे मिथ्या मान तथा अपमान से प्रभावित नहीं होता। वह कृष्णभावनामृत में रहकर अपना कर्तव्य निबाहता है और इसकी चिन्ता नहीं करता कि कोई व्यक्ति उसका सम्मान करता है या अपमान। वह उन बातों को स्वीकार कर लेता है, जो कृष्णभावनामृत में उसके कर्तव्य के अनुकूल हैं, अन्यथा उसे किसी भौतिक वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती, चाहे वह पत्थर हो या सोना। वह प्रत्येक व्यक्ति को जो कृष्णभावनामृत के सम्पादन में उसकी सहायता करता है, अपना मित्र मानता है और वह अपने तथाकथित शत्रु से भी घृणा नहीं करता। वह समभाव वाला होता है और सारी वस्तुओं को समान धरातल पर देखता है, क्योंकि वह इसे भलीभाँति जानता है कि उसे इस संसार से कुछ भी लेना-देना नहीं है। उसे सामाजिक तथा राजनीतिक विषय तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाते, क्योंकि वह क्षणिक उथल-पुथल तथा उत्पातों की स्थिति से अवगत रहता है। वह अपने लिए कोई कर्म नहीं करता। कृष्ण के लिए वह कुछ भी कर सकता है, लेकिन अपने लिए वह किसी प्रकार

का प्रयास नहीं करता। ऐसे आचरण से मनुष्य वास्तव में दिव्य पद पर स्थित हो सकता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

माम्—मेरी; **च**—भी; **यः**—जो व्यक्ति; **अव्यभिचारेण**—बिना विचलित हुए; **भक्ति-योगेन**—भक्ति से; **सेवते**—सेवा करता है; **सः**—वह; **गुणान्**—प्रकृति के गुणों को; **समतीत्य**—लाँघ कर; **एतान्**—इन सब; **ब्रह्म-भूयाय**—ब्रह्म पद तक ऊपर उठा हुआ; **कल्पते**—हो जाता है।

जो समस्त परिस्थितियों में अविचलित भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के स्तर तक पहुँच जाता है।

तात्पर्य : यह श्लोक अर्जुन के तृतीय प्रश्न के उत्तरस्वरूप है। प्रश्न है—दिव्य स्थिति प्राप्त करने का साधन क्या है? जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह भौतिक जगत् प्रकृति के गुणों के चमत्कार के अन्तर्गत कार्य कर रहा है। मनुष्य को गुणों के कर्मों से विचलित नहीं होना चाहिए, उसे चाहिए कि अपनी चेतना ऐसे कार्यों में न लगाकर उसे कृष्ण-कार्यों में लगाए। कृष्णकार्य भक्तियोग के नाम से विख्यात हैं, जिनमें सदैव कृष्ण के लिए कार्य करना होता है। इसमें न केवल कृष्ण ही आते हैं, अपितु उनके विभिन्न पूर्णांश भी सम्मिलित हैं—यथा राम तथा नारायण। उनके असंख्य अंश हैं। जो कृष्ण के किसी भी रूप या उनके पूर्णांश की सेवा में प्रवृत्त होता है, उसे दिव्य पद पर स्थित समझना चाहिए। यह ध्यान देना होगा कि कृष्ण के सारे रूप पूर्णतया दिव्य और सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ईश्वर के ऐसे रूप सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ होते हैं और उनमें समस्त दिव्यगुण पाये जाते हैं। अतएव यदि कोई कृष्ण या उनके पूर्णांशों की सेवा में दृढ़संकल्प के साथ प्रवृत्त होता है, तो यद्यपि प्रकृति के गुणों को जीत पाना कठिन है, लेकिन वह उन्हें सरलता से जीत सकता है। इसकी व्याख्या सातवें अध्याय में पहले ही की जा चुकी है। कृष्ण की शरण ग्रहण करने पर तुरन्त ही प्रकृति के गुणों के प्रभाव को लाँघा जा सकता है। कृष्णभावनामृत या कृष्ण-भक्ति में होने का अर्थ है, कृष्ण के साथ समानता प्राप्त करना। भगवान् कहते हैं कि उनकी प्रकृति सच्चिदानन्द स्वरूप है और सारे जीव परम के अंश हैं, जिस प्रकार सोने के कण सोने की खान के अंश हैं। इस प्रकार जीव अपनी आध्यात्मिक स्थिति में सोने के समान या कृष्ण के समान ही गुण वाला होता है। किन्तु व्यष्टित्व का अन्तर बना रहता है अन्यथा भक्तियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्तियोग का अर्थ है कि भगवान् हैं, भक्त है तथा भगवान् और भक्त के बीच प्रेम का आदान-प्रदान चलता रहता है। अतएव भगवान् में और भक्त में दो व्यक्तियों का व्यष्टित्व वर्तमान रहता है, अन्यथा भक्तियोग का कोई अर्थ नहीं है। यदि कोई भगवान् जैसे दिव्य स्तर पर स्थित नहीं है, तो वह भगवान् की सेवा नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, राजा का निजी सहायक बनने के लिए कुछ योग्यताएँ आवश्यक हैं। इस तरह भगवत्सेवा के लिए योग्यता है कि ब्रह्म बना जाय या भौतिक कल्मष से मुक्त हुआ जाय। वैदिक साहित्य

में कहा गया है *ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति*। इसका अर्थ है कि गुणात्मक रूप से मनुष्य को ब्रह्म से एकाकार हो जाना चाहिए। लेकिन ब्रह्मत्व प्राप्त करने पर मनुष्य व्यष्टि आत्मा के रूप में अपने शाश्वत ब्रह्म-स्वरूप को खोता नहीं।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

ब्रह्मणः—निराकार ब्रह्मज्योति का; **हि**—निश्चय ही; **प्रतिष्ठा**—आश्रय; **अहम्**—मैं हूँ; **अमृतस्य**—अमर्त्य का; **अव्ययस्य**—अविनाशी का; **च**—भी; **शाश्वतस्य**—शाश्वत का; **च**—तथा; **धर्मस्य**—स्वाभाविक स्थिति (स्वरूप) का; **सुखस्य**—सुख का; **ऐकान्तिकस्य**—चरम, अन्तिम; **च**—भी।

और मैं ही उस निराकार ब्रह्म का आश्रय हूँ, जो अमर्त्य, अविनाशी तथा शाश्वत है और चरम सुख का स्वाभाविक पद है।

तात्पर्य : ब्रह्म का स्वरूप है अमरता, अविनाशिता, शाश्वतता तथा सुख। ब्रह्म तो दिव्य साक्षात्कार का शुभारम्भ है। परमात्मा इस दिव्य साक्षात्कार की मध्य या द्वितीय अवस्था है और भगवान् परम सत्य के चरम साक्षात्कार हैं। अतएव परमात्मा तथा निराकार ब्रह्म दोनों ही परम पुरुष के भीतर रहते हैं। सातवें अध्याय में बताया जा चुका है कि प्रकृति परमेश्वर की अपरा शक्ति की अभिव्यक्ति है। भगवान् इस अपरा प्रकृति में परा प्रकृति को गर्भस्थ करते हैं और भौतिक प्रकृति के लिए यह आध्यात्मिक स्पर्श है। जब इस प्रकृति द्वारा बद्धजीव आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करना प्रारम्भ करता है, तो वह इस भौतिक जगत् के पद से ऊपर उठने लगता है और क्रमशः परमेश्वर के ब्रह्म-बोध तक उठ जाता है। ब्रह्म-बोध की प्राप्ति आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में ब्रह्मभूत व्यक्ति भौतिक पद को पार कर जाता है, लेकिन वह ब्रह्म-साक्षात्कार में पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाता। यदि वह चाहे तो इस ब्रह्मपद पर बना रह सकता है और धीरे-धीरे परमात्मा के साक्षात्कार को और फिर भगवान् के साक्षात्कार को प्राप्त हो सकता है। वैदिक साहित्य में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। चारों कुमार पहले निराकार ब्रह्म में स्थित थे, लेकिन क्रमशः वे भक्तिपद तक उठ गए। जो व्यक्ति निराकार ब्रह्मपद से ऊपर नहीं उठ पाता, उसके नीचे गिरने का डर बना रहता है। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि भले ही कोई निराकार ब्रह्म की अवस्था को प्राप्त कर ले, किन्तु इससे ऊपर उठे बिना तथा परम पुरुष के विषय में सूचना प्राप्त किये बिना उसकी बुद्धि विमल नहीं हो पाती। अतएव ब्रह्मपद तक उठ जाने के बाद भी यदि भगवान् की भक्ति नहीं की जाती, तो नीचे गिरने का भय बना रहता है। वैदिक भाषा में यह भी कहा गया है—*रसो वै सः; रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*—रस के आगार भगवान् श्रीकृष्ण को जान लेने पर मनुष्य वास्तव में दिव्य आनन्दमय हो जाता है (*तैत्तिरीय-उपनिषद्* २.७.१)। परमेश्वर छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और जब भक्त निकट पहुँचता है तो इन छह ऐश्वर्यों का आदान-प्रदान होता है। राजा का सेवक लगभग राजा के ही समान पद का भोग करता है। इस प्रकार के शाश्वत सुख, अविनाशी सुख तथा शाश्वत जीवन भक्ति के साथ-साथ चलते हैं। अतएव भक्ति में ब्रह्म-साक्षात्कार या शाश्वतता या अमरता

सम्मिलित रहते हैं। भक्ति में प्रवृत्त व्यक्ति में ये पहले से ही प्राप्त रहते हैं।

जीव यद्यपि स्वभाव से ब्रह्म होता है, लेकिन उसमें भौतिक जगत् पर प्रभुत्व जताने की इच्छा रहती है, जिसके कारण वह नीचे गिरता है। अपनी स्वाभाविक स्थिति में जीव तीनों गुणों से परे होता है। लेकिन प्रकृति के संसर्ग से वह अपने को तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमोगुण—में बाँध लेता है। इन्हीं तीनों गुणों के संसर्ग के कारण उसमें भौतिक जगत् पर प्रभुत्व जताने की इच्छा होती है। पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्ति में प्रवृत्त होने पर वह तुरन्त दिव्य पद को प्राप्त होता है और उसमें प्रकृति को वश में करने की जो अवैध इच्छा है, वह दूर हो जाती है। अतएव भक्तों की संगति कर के भक्ति की नौ विधियों—श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि का अभ्यास करना चाहिए। धीरे-धीरे ऐसी संगति से तथा गुरु के प्रभाव से मनुष्य की प्रभुता जताने वाली इच्छा समाप्त हो जाएगी और वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में दृढ़तापूर्वक स्थित हो सकेगा। इस विधि की संस्तुति इस अध्याय के बाइसवें श्लोक से लेकर इस अन्तिम श्लोक तक की गई है। भगवान् की भक्ति अतीव सरल है, मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की सेवा में लगे, श्रीविग्रह को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट खाए, भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये गये पुष्पों की सुगंध सूँघे, भगवान् के लीलास्थलों का दर्शन करे, भगवान् के विभिन्न कार्यकलापों और उनके भक्तों के साथ प्रेम-विनिमय के बारे में पढ़े, सदा *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥* इस महामन्त्र की दिव्य ध्वनि का कीर्तन करे और भगवान् तथा उनके भक्तों के आविर्भाव तथा तिरोधानों को मनाने वाले दिनों में उपवास करे। ऐसा करने से मनुष्य समस्त भौतिक गतिविधियों से विरक्त हो जायेगा। इस प्रकार जो व्यक्ति अपने को ब्रह्मज्योति या ब्रह्म-बोध के विभिन्न प्रकारों में स्थित कर सकता है, वह गुणात्मक रूप में भगवान् के तुल्य है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के चौदहवें अध्याय "प्रकृति के तीन गुण" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय पन्द्रह

पुरुषोत्तम योग

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **ऊर्ध्व-मूलम्**—ऊपर की ओर जड़ें; **अधः**—नीचे की ओर; **शाखम्**—शाखाएँ; **अश्वत्थम्**—अश्वत्थ वृक्ष को; **प्राहुः**—कहा गया है; **अव्ययम्**—शाश्वत; **छन्दांसि**—वैदिक स्तोत्र; **यस्य**—जिसके; **पर्णानि**—पत्ते; **यः**—जो कोई; **तम्**—उसको; **वेद**—जानता है; **सः**—वह; **वेदवित्**—वेदों का ज्ञाता।

भगवान् ने कहा—कहा जाता है कि एक शाश्वत अश्वत्थ वृक्ष है, जिसकी जड़ें तो ऊपर की ओर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर तथा पत्तियाँ वैदिक स्तोत्र हैं। जो इस वृक्ष को जानता है, वह वेदों का ज्ञाता है।

तात्पर्य : भक्तियोग की महत्ता की विवेचना के बाद यह पूछा जा सकता है, "वेदों का

क्या प्रयोजन है?" इस अध्याय में बताया गया है कि वैदिक अध्ययन का प्रयोजन कृष्ण को समझना है। अतएव जो कृष्णभावनाभावित है, जो भक्ति में रत है, वह वेदों को पहले से जानता है।

इस भौतिक जगत् के बन्धन की तुलना अश्वत्थ के वृक्ष से की गई है। जो व्यक्ति सकाम कर्मों में लगा है, उसके लिए इस वृक्ष का कोई अन्त नहीं है। वह एक शाखा से दूसरी में और दूसरी से तीसरी में घूमता रहता है। इस जगत् रूपी वृक्ष का कोई अन्त नहीं है और जो इस वृक्ष में आसक्त है, उसकी मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। वैदिक स्तोत्र, जो आत्मोन्नति के लिए हैं, वे ही इस वृक्ष के पत्ते हैं। इस वृक्ष की जड़ें ऊपर की ओर बढ़ती हैं, क्योंकि वे इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से प्रारम्भ होती हैं, जहाँ पर ब्रह्मा स्थित हैं। यदि कोई इस मोह रूपी अविनाशी वृक्ष को समझ लेता है, तो वह इससे बाहर निकल सकता है।

बाहर निकलने की इस विधि को जानना आवश्यक है। पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि भवबन्धन से निकलने की कई विधियाँ हैं। हम तेरहवें अध्याय तक यह देख चुके हैं कि भगवद्भक्ति ही सर्वोत्कृष्ट विधि है। भक्ति का मूल सिद्धान्त है—भौतिक कार्यों से विरक्ति तथा भगवान् की दिव्य सेवा में अनुरक्ति। इस अध्याय के प्रारम्भ में संसार से आसक्ति तोड़ने की विधि का वर्णन हुआ है। इस संसार की जड़ें ऊपर को बढ़ती हैं। इसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से पूर्ण भौतिक पदार्थ से यह प्रक्रिया शुरू होती है। वहीं से सारे ब्रह्माण्ड का विस्तार होता है, जिसमें अनेक लोक उसकी शाखाओं के रूप में होते हैं। इसके फल जीवों के कर्मों के फल के, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के, द्योतक हैं।

यद्यपि इस संसार में ऐसे वृक्ष का, जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर हों तथा जड़ें ऊपर की ओर हों, कोई अनुभव नहीं है, किन्तु बात कुछ ऐसी ही है। ऐसा वृक्ष जलाशय के निकट पाया जा सकता है। हम देख सकते हैं—जलाशय के तट पर उगे वृक्ष का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है, तो उसकी जड़ें ऊपर तथा शाखाएँ नीचे की ओर दिखती हैं। दूसरे शब्दों में, यह जगत् रूपी वृक्ष आध्यात्मिक जगत् रूपी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस आध्यात्मिक जगत् का प्रतिबिम्ब हमारी इच्छाओं में स्थित है, जिस प्रकार वृक्ष का प्रतिबिम्ब जल में रहता है। इच्छा ही इस प्रतिबिम्बित भौतिक प्रकाश में वस्तुओं के स्थित होने का कारण है। जो व्यक्ति इस भौतिक जगत् से बाहर निकलना चाहता है, उसे वैश्लेषिक अध्ययन के माध्यम से इस वृक्ष को भलीभाँति जान लेना चाहिए। फिर वह इस वृक्ष से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है।

यह वृक्ष वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब होने के कारण वास्तविक प्रतिरूप है। आध्यात्मिक जगत् में सब कुछ है। ब्रह्म को निर्विशेषवादी इस भौतिक वृक्ष का मूल मानते हैं और सांख्य दर्शन के अनुसार इसी मूल से पहले प्रकृति, पुरुष और तब तीन गुण निकलते हैं और फिर पाँच स्थूल तत्त्व (पंच महाभूत), फिर दस इन्द्रियाँ (दशेन्द्रिय), मन आदि। इस प्रकार वे सारे संसार को चौबीस तत्त्वों में विभाजित करते हैं। यदि ब्रह्म समस्त अभिव्यक्तियों का केन्द्र है, तो एक प्रकार से यह भौतिक जगत् १८० अंश (गोलार्द्ध) में है और दूसरे १८० अंश (गोलार्द्ध) में आध्यात्मिक जगत् है। चूँकि यह

भौतिक जगत् उल्टा प्रतिबिम्ब है, अतः आध्यात्मिक जगत् में भी इसी प्रकार की विविधता होनी चाहिये। प्रकृति परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति है और पुरुष साक्षात् परमेश्वर है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हो चुकी है। चूँकि यह अभिव्यक्ति भौतिक है, अतः क्षणिक है। प्रतिबिम्ब भी क्षणिक होता है, क्योंकि कभी वह दिखता है और कभी नहीं दिखता। परन्तु वह स्रोत जहाँ से यह प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है, शाश्वत है। वास्तविक वृक्ष के भौतिक प्रतिबिम्ब का विच्छेदन करना होता है। जब कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति वेद जानता है, तो इससे समझा जाता है कि वह इस जगत् की आसक्ति से विच्छेद करना जानता है। यदि वह इस विधि को जानता है, तो समझिये कि वह वास्तव में वेदों को जानता है। जो व्यक्ति वेदों के कर्मकाण्ड द्वारा आकृष्ट होता है, वह इस वृक्ष की सुन्दर हरी पत्तियों से आकृष्ट होता है। वह वेदों के वास्तविक उद्देश्य को नहीं जानता। वेदों का उद्देश्य, भगवान् ने स्वयं प्रकट किया है और वह है इस प्रतिबिम्बित वृक्ष को काट कर आध्यात्मिक जगत् के वास्तविक वृक्ष को प्राप्त करना।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

अधः—नीचे; **च**—तथा; **ऊर्ध्वम्**—ऊपर की ओर; **प्रसृताः**—फैली हुई; **तस्य**—उसकी; **शाखाः**—शाखाएँ; **गुण**—प्रकृति के गुणों द्वारा; **प्रवृद्धाः**—विकसित; **विषय**—इन्द्रियविषय; **प्रवालाः**—टहनियाँ; **अधः**—नीचे की ओर; **च**—तथा; **मूलानि**—जड़ों को; **अनुसन्ततानि**—विस्तृत; **कर्म**—कर्म करने के लिए; **अनुबन्धीनि**—बँधा; **मनुष्य-लोके**—मानव समाज के जगत् में।

इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर तथा नीचे फैली हुई हैं और प्रकृति के तीन गुणों द्वारा पोषित हैं। इसकी टहनियाँ इन्द्रियविषय हैं। इस वृक्ष की जड़ें नीचे की ओर भी जाती हैं, जो मानवसमाज के सकाम कर्मों से बँधी हुई हैं।

तात्पर्य : अश्वत्थ वृक्ष की यहाँ और भी व्याख्या की गई है। इसकी शाखाएँ चतुर्दिक फैली हुई हैं। निचले भाग में जीवों की विभिन्न योनियाँ हैं, यथा मनुष्य, पशु, घोड़े, गाय, कुत्ते, बिल्लियाँ आदि। ये सभी वृक्ष की शाखाओं के निचले भाग में स्थित हैं। लेकिन ऊपरी भाग में जीवों की उच्चयोनियाँ हैं—यथा देव, गन्धर्व तथा अन्य बहुत सी उच्चतर योनियाँ। जिस प्रकार सामान्य वृक्ष का पोषण जल से होता है, उसी प्रकार यह वृक्ष प्रकृति के तीन गुणों द्वारा पोषित है। कभी-कभी हम देखते हैं कि जलाभाव से कोई-कोई भूखण्ड वीरान हो जाता है, तो कोई खण्ड लहलहाता है, इसी प्रकार जहाँ प्रकृति के किन्ही विशेष गुणों का आनुपातिक आधिक्य होता है, वहाँ उसी के अनुरूप जीवों की योनियाँ प्रकट होती हैं।

वृक्ष की टहनियाँ इन्द्रियविषय हैं। विभिन्न गुणों के विकास से हम विभिन्न प्रकार की इन्द्रियों का विकास करते हैं और इन इन्द्रियों के द्वारा हम विभिन्न इन्द्रियविषयों का भोग करते हैं। शाखाओं के सिरे इन्द्रियाँ हैं—यथा कान, नाक, आँख आदि, जो विभिन्न

इन्द्रियविषयों के भोग में आसक्त हैं। टहनियाँ शब्द, रूप, स्पर्श आदि इन्द्रिय विषय हैं। सहायक जड़ें राग तथा द्वेष हैं, जो विभिन्न प्रकार के कष्ट तथा इन्द्रियभोग के विभिन्न रूप हैं। धर्म-अधर्म की प्रवृत्तियाँ इन्हीं गौण जड़ों से उत्पन्न हुई मानी जाती हैं, जो चारों दिशाओं में फैली हैं। वास्तविक जड़ तो ब्रह्मलोक में है, किन्तु अन्य जड़ें मर्त्यलोक में हैं। जब मनुष्य उच्चलोकों में पुण्यकर्मों का फल भोग चुकता है, तो वह इस धरा पर उतरता है और उन्नति के लिए सकाम कर्मों का नवीनीकरण करता है। यह मनुष्यलोक कर्मक्षेत्र माना जाता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

न—नहीं; **रूपम्**—रूप; **अस्य**—इस वृक्ष का; **इह**—इस संसार में; **तथा**—भी; **उपलभ्यते**—अनुभव किया जा सकता है; **न**—कभी नहीं; **अन्तः**—अन्त; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **आदिः**—प्रारम्भ; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **सम्प्रतिष्ठा**—नींव; **अश्वत्थम्**—अश्वत्थ वृक्ष को; **एनम्**—इस; **सु-विरूढ**—अत्यन्त दृढ़ता से; **मूलम्**—जड़वाला; **असङ्ग-शस्त्रेण**—विरक्ति के हथियार से; **दृढेन**—दृढ़; **छित्त्वा**—काट कर; **ततः**—तत्पश्चात्; **पदम्**—स्थिति को; **तत्**—उस; **परिमार्गितव्यम्**—खोजना चाहिए; **यस्मिन्**—जहाँ; **गताः**—जाकर; **न**—कभी नहीं; **निवर्तन्ति**—वापस आते हैं; **भूयः**—पुनः; **तम्**—उसको; **एव**—ही; **च**—भी; **आद्यम्**—आदि; **पुरुषम्**—भगवान् की; **प्रपद्ये**—शरण में जाता हूँ; **यतः**—जिससे; **प्रवृत्तिः**—प्रारम्भ; **प्रसृता**—विस्तीर्ण; **पुराणी**—अत्यन्त पुरानी।

इस वृक्ष के वास्तविक स्वरूप का अनुभव इस जगत् में नहीं किया जा सकता। कोई भी नहीं समझ सकता कि इसका आदि कहाँ है, अन्त कहाँ है या इसका आधार कहाँ है? लेकिन मनुष्य को चाहिए कि इस दृढ़ मूल वाले वृक्ष को विरक्ति के शस्त्र से काट गिराए। तत्पश्चात् उसे ऐसे स्थान की खोज करनी चाहिए जहाँ जाकर लौटना न पड़े और जहाँ उस भगवान् की शरण ग्रहण कर ली जाये, जिससे अनादि काल से प्रत्येक वस्तु का सूत्रपात तथा विस्तार होता आया है।

तात्पर्य : अब यह स्पष्ट कह दिया गया है कि इस अश्वत्थ वृक्ष के वास्तविक स्वरूप को इस भौतिक जगत् में नहीं समझा जा सकता। चूँकि इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं, अतः वास्तविक वृक्ष का विस्तार विरुद्ध दिशा में होता है। जब वृक्ष के भौतिक विस्तार में कोई फँस जाता है, तो उसे न तो यह पता चल पाता है कि यह कितनी दूरी तक फैला है और न वह इस वृक्ष के शुभारम्भ को ही देख पाता है। फिर भी मनुष्य को कारण

की खोज करनी ही होती है। "मैं अमुक पिता का पुत्र हूँ, जो अमुक का पुत्र है, आदि"— इस प्रकार अनुसन्धान करने से मनुष्य को ब्रह्मा प्राप्त होते हैं, जिन्हें गर्भोदकशायी विष्णु ने उत्पन्न किया। इस प्रकार अन्ततः भगवान् तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ सारी गवेषणा का अन्त हो जाता है। मनुष्य को इस वृक्ष के उद्गम, परमेश्वर, की खोज ऐसे व्यक्तियों की संगति द्वारा करनी होती है, जिन्हें उस परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त है। इस प्रकार ज्ञान से मनुष्य धीरे-धीरे वास्तविकता के इस छद्म प्रतिबिम्ब से विलग हो जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होने पर वह वास्तव में मूलवृक्ष में स्थित हो जाता है।

इस प्रसंग में *असङ्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विषयभोग की आसक्ति तथा भौतिक प्रकृति पर प्रभुता अत्यन्त प्रबल होती है। अतएव प्रामाणिक शास्त्रों पर आधारित आत्म-ज्ञान की विवेचना द्वारा विरक्ति सीखनी चाहिए और ज्ञानी पुरुषों से श्रवण करना चाहिए। भक्तों की संगति में रहकर ऐसी विवेचना से भगवान् की प्राप्ति होती है। तब सर्वप्रथम जो करणीय है, वह है भगवान् की शरण ग्रहण करना। यहाँ पर उस स्थान (पद) का वर्णन किया गया है, जहाँ जाकर मनुष्य इस छद्म प्रतिबिम्बित वृक्ष में कभी वापस नहीं लौटता। भगवान् कृष्ण वह आदि मूल हैं, जहाँ से प्रत्येक वस्तु निकली है। उस भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए केवल उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए, जो श्रवण, कीर्तन आदि द्वारा भक्ति करने के फलस्वरूप प्राप्त होती है। वे ही भौतिक जगत् के विस्तार के कारण हैं। इसकी व्याख्या पहले ही स्वयं भगवान् ने की है। *अहं सर्वस्य प्रभवः*—मैं प्रत्येक वस्तु का उद्गम हूँ। अतएव इस भौतिक जीवन रूपी प्रबल अश्वत्थ के वृक्ष के बन्धन से छूटने के लिए कृष्ण की शरण ग्रहण की जानी चाहिए। कृष्ण की शरण ग्रहण करते ही मनुष्य स्वतः इस भौतिक विस्तार से विलग हो जाता है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥५॥

निः—रहित; **मान**—झूठी प्रतिष्ठा; **मोहाः**—तथा मोह; **जित**—जीता गया; **सङ्ग**—संगति की; **दोषाः**—त्रुटियाँ; **अध्यात्म**—आध्यात्मिक ज्ञान में; **नित्याः**—शाश्वतता में; **विनिवृत्त**—विलग; **कामाः**—काम से; **द्वन्द्वैः**—द्वैत से; **विमुक्ताः**—मुक्त; **सुख-दुःख**—सुख तथा दुख; **संज्ञैः**—नामक; **गच्छन्ति**—प्राप्त करते हैं; **अमूढाः**—मोहरहित; **पदम्**—पद, स्थान को; **अव्ययम्**—शाश्वत; **तत्**—उस।

जो झूठी प्रतिष्ठा, मोह तथा कुसंगति से मुक्त हैं, जो शाश्वत तत्त्व को समझते हैं, जिन्होंने भौतिक काम को नष्ट कर दिया है, जो सुख तथा दुख के द्वन्द्व से मुक्त हैं और जो मोहरहित होकर परम पुरुष के शरणागत होना जानते हैं, वे उस शाश्वत राज्य को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर शरणागति का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। इसके लिए जिस प्रथम योग्यता की आवश्यकता है, वह है मिथ्या अहंकार से मोहित न होना। चूँकि बद्धजीव

अपने को प्रकृति का स्वामी मानकर गर्वित रहता है, अतएव उसके लिए भगवान् की शरण में जाना कठिन होता है। उसे वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यह जानना चाहिए कि वह प्रकृति का स्वामी नहीं है, उसका स्वामी तो परमेश्वर है। जब मनुष्य अहंकार से उत्पन्न मोह से मुक्त हो जाता है, तभी शरणागति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है। जो व्यक्ति इस संसार में सदैव सम्मान की आशा रखता है, उसके लिए भगवान् के शरणागत होना कठिन है। अहंकार तो मोह के कारण होता है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य यहाँ आता है, कुछ काल तक रहता है और फिर चला जाता है, तो भी मूर्खतावश यह समझ बैठता है कि वही इस संसार का स्वामी है। इस तरह वह सारी परिस्थिति को जटिल बना देता है और सदैव कष्ट उठाता रहता है। सारा संसार इसी भ्रान्तधारणा के अन्तर्गत आगे बढ़ता है। लोग सोचते हैं कि यह भूमि या पृथ्वी मानव समाज की है और उन्होंने भूमि का विभाजन इस मिथ्या धारणा से कर रखा है कि वे इसके स्वामी हैं। मनुष्य को इस भ्रम से मुक्त होना चाहिए कि मानव समाज ही इस जगत् का स्वामी है। जब मनुष्य इस प्रकार की भ्रान्तधारणा से मुक्त हो जाता है, तो वह पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय स्नेह से उत्पन्न कुसंगतियों से मुक्त हो जाता है। ये त्रुटि-पूर्ण संगतियाँ ही उसे इस संसार से बाँधने वाली हैं। इस अवस्था के बाद उसे आध्यात्मिक ज्ञान विकसित करना होता है। उसे ऐसे ज्ञान का अनुशीलन करना होता है कि वास्तव में उसका क्या है और क्या नहीं है। और जब उसे वस्तुओं का सही-सही ज्ञान हो जाता है तो वह सुख-दुख, हर्ष-विषाद जैसे द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। वह ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है और तब भगवान् का शरणागत बनना सम्भव हो पाता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

न—नहीं; **तत्**—वह; **भासयते**—प्रकाशित करता है; **सूर्यः**—सूर्य; **न**—न तो; **शशाङ्कः**—चन्द्रमा; **न**—न तो; **पावकः**—अग्नि, बिजली; **यत्**—जहाँ; **गत्वा**—जाकर; **न**—कभी नहीं; **निवर्तन्ते**—वापस आते हैं; **तत्-धाम**—वह धाम; **परमम्**—परम; **मम**—मेरा।

वह मेरा परम धाम न तो सूर्य या चन्द्र के द्वारा प्रकाशित होता है और न अग्नि या बिजली से। जो लोग वहाँ पहुँच जाते हैं, वे इस भौतिक जगत् में फिर से लौट कर नहीं आते।

तात्पर्य : यहाँ पर आध्यात्मिक जगत् अर्थात् भगवान् कृष्ण के धाम का वर्णन हुआ है, जिसे कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन कहा जाता है। चिन्मय आकाश में न तो सूर्यप्रकाश की आवश्यकता है, न चन्द्रप्रकाश अथवा अग्नि या बिजली की, क्योंकि सारे लोक स्वयं प्रकाशित हैं। इस ब्रह्माण्ड में केवल एक लोक, सूर्य, ऐसा है जो स्वयं प्रकाशित है। लेकिन आध्यात्मिक आकाश में सभी लोक स्वयं प्रकाशित हैं। उन समस्त लोकों के (जिन्हें वैकुण्ठ कहा जाता है) चमचमाते तेज से चमकीला आकाश बनता है, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं। वस्तुतः यह तेज कृष्णलोक, गोलोक वृन्दावन से निकलता है। इस तेज का एक अंश महत्-तत्त्व अर्थात् भौतिक जगत् से आच्छादित रहता है। इसके

अतिरिक्त ज्योतिर्मय आकाश का अधिकांश भाग तो आध्यात्मिक लोकों से पूर्ण है, जिन्हें वैकुण्ठ कहा जाता है और जिनमें से गोलोक वृन्दावन प्रमुख है।

जब तक जीव इस अंधकारमय जगत् में रहता है, तब तक वह बद्ध अवस्था में होता है। लेकिन ज्योंही वह इस भौतिक जगत् रूपी मिथ्या, विकृत वृक्ष को काट कर आध्यात्मिक आकाश में पहुँचता है, त्योंही वह मुक्त हो जाता है। तब वह यहाँ वापस नहीं आता। इस बद्ध जीवन में जीव अपने को भौतिक जगत् का स्वामी मानता है, लेकिन अपनी मुक्त अवस्था में वह आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करता है और परमेश्वर का पार्षद बन जाता है। वहाँ पर वह सच्चिदानन्दमय जीवन बिताता है।

इस सूचना से मनुष्य को मुग्ध हो जाना चाहिए। उसे उस शाश्वत जगत् में ले जाये जाने की इच्छा करनी चाहिए और सच्चाई के इस मिथ्या प्रतिबिम्ब से अपने आपको विलग कर लेना चाहिए। जो इस संसार से अत्यधिक आसक्त है, उसके लिए इस आसक्ति का छेदन करना दुष्कर होता है। लेकिन यदि वह कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर ले, तो उसके क्रमशः छूट जाने की सम्भावना है। उसे ऐसे भक्तों की संगति करनी चाहिए जो कृष्णभावनाभावित होते हैं। उसे ऐसा समाज खोजना चाहिए, जो कृष्णभावनामृत के प्रति समर्पित हो और उसे भक्ति करनी सीखनी चाहिए। इस प्रकार वह संसार के प्रति अपनी आसक्ति विच्छेद कर सकता है। यदि कोई चाहे कि केसरिया वस्त्र पहनने से भौतिक जगत् के आकर्षण से विच्छेद हो जाएगा, तो ऐसा सम्भव नहीं है। उसे भगवद्भक्ति के प्रति आसक्त होना पड़ेगा। अतएव मनुष्य को चाहिए कि गम्भीरतापूर्वक समझे कि बारहवें अध्याय में भक्ति का जैसा वर्णन है वही वास्तविक वृक्ष की इस मिथ्या अभिव्यक्ति से बाहर निकलने का एकमात्र साधन है। चौदहवें अध्याय में बताया गया है कि भौतिक प्रकृति द्वारा सारी विधियाँ दूषित हो जाती हैं, केवल भक्ति ही शुद्ध रूप से दिव्य है।

यहाँ *परमं मम* शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में जगत का कोना-कोना भगवान् की सम्पत्ति है, परन्तु दिव्य जगत परम है और छह ऐश्वर्यों से पूर्ण है। *कठोपनिषद्* (२.२.१५) में भी इसकी पुष्टि की गई है कि दिव्य जगत में सूर्य प्रकाश, चन्द्र प्रकाश या तारागण की कोई आवश्यकता नहीं है, (*न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम्*) क्योंकि समस्त आध्यात्मिक आकाश भगवान् की आन्तरिक शक्ति से प्रकाशमान है। उस परम धाम तक केवल शरणागति से ही पहुँचा जा सकता है, अन्य किसी साधन से नहीं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

मम—मेरा; **एव**—निश्चय ही; **अंशः**—सूक्ष्म कण; **जीव-लोके**—बद्ध जीवन के संसार में; **जीव-भूतः**—बद्धजीव; **सनातनः**—शाश्वत; **मनः**—मन; **षष्ठानि**—छह; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियों समेत; **प्रकृति**—भौतिक प्रकृति में; **स्थानि**—स्थित; **कर्षति**—संघर्ष करता है।

इस बद्ध जगत् में सारे जीव मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्ध जीवन के कारण वे छहों इन्द्रियों से घोर संघर्ष कर रहे हैं, जिनमें मन भी सम्मिलित है।

तात्पर्य : इस श्लोक में जीव का स्वरूप स्पष्ट है। जीव परमेश्वर का सनातन रूप से

सूक्ष्म अंश है। ऐसा नहीं है कि बद्ध जीवन में वह एक व्यष्टित्व धारण करता है और मुक्त अवस्था में वह परमेश्वर से एकाकार हो जाता है। वह सनातन का अंश रूप है। यहाँ पर स्पष्टतः *सनातन* कहा गया है। वेदवचन के अनुसार परमेश्वर अपने आप को असंख्य रूपों में प्रकट करके विस्तार करते हैं, जिनमें से व्यक्तिगत विस्तार *विष्णुतत्त्व* कहलाते हैं और गौण विस्तार जीव कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में, विष्णु तत्त्व निजी विस्तार (स्वांश) हैं और जीव विभिन्नांश (पृथकीकृत अंश) हैं। अपने स्वांश द्वारा वे भगवान् राम, नृसिंह देव, विष्णुमूर्ति तथा वैकुण्ठलोक के प्रधान देवों के रूप में प्रकट होते हैं। विभिन्नांश अर्थात् जीव, सनातन सेवक होते हैं। भगवान् के स्वांश सदैव विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार जीवों के विभिन्नांशों के अपने स्वरूप होते हैं। परमेश्वर के विभिन्नांश होने के कारण जीवों में भी उनके आंशिक गुण पाये जाते हैं, जिनमें से स्वतन्त्रता एक है। प्रत्येक जीव का आत्मा रूप में, अपना व्यष्टित्व और सूक्ष्म स्वातंत्र्य होता है। इसी स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से जीव बद्ध बनता है और उसके सही उपयोग से वह मुक्त बनता है। दोनों ही अवस्थाओं में वह भगवान् के समान ही सनातन होता है। मुक्त अवस्था में वह इस भौतिक अवस्था से मुक्त रहता है और भगवान् की दिव्य सेवा में निरत रहता है। बद्ध जीवन में प्रकृति के गुणों द्वारा अभिभूत होकर वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को भूल जाता है। फलस्वरूप उसे अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए इस संसार में अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है।

न केवल मनुष्य तथा कुत्ते-बिल्ली जैसे जीव, अपितु इस भौतिक जगत् के बड़े-बड़े नियन्ता—यथा ब्रह्मा-शिव तथा विष्णु तक, परमेश्वर के अंश हैं। ये सभी सनातन अभिव्यक्तियाँ हैं, क्षणिक नहीं। *कर्षति* (संघर्ष करना) शब्द अत्यन्त सार्थक है। बद्धजीव मानो लौह शृंखलाओं से बँधा हो। वह मिथ्या अहंकार से बँधा रहता है और मन मुख्य कारण है जो उसे इस भवसागर की ओर धकेलता है। जब मन सतोगुण में रहता है, तो उसके कार्यकलाप अच्छे होते हैं। जब रजोगुण में रहता है, तो उसके कार्यकलाप कष्टकारक होते हैं और जब वह तमोगुण में होता है, तो वह जीवन की निम्नयोनियों में चला जाता है। लेकिन इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि बद्धजीव मन तथा इन्द्रियों समेत भौतिक शरीर से आवरित है और जब वह मुक्त हो जाता है तो यह भौतिक आवरण नष्ट हो जाता है। लेकिन उसका आध्यात्मिक शरीर अपने व्यष्टि रूप में प्रकट होता है। *माध्यान्दिनायन श्रुति* में यह सूचना प्राप्त है—*स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति*। यहाँ यह बताया गया है कि जब जीव अपने इस भौतिक शरीर को त्यागता है और आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करता है, तो उसे पुनः आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है, जिससे वह भगवान् का साक्षात्कार कर सकता है। यह उनसे आमने-सामने बोल सकता है और सुन सकता है तथा जिस रूप में भगवान् हैं, उन्हें समझ सकता है। स्मृति से भी यह ज्ञात होता है—*वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठ-मूर्तयः*—वैकुण्ठ में सारे जीव भगवान् जैसे शरीरों में रहते हैं। जहाँ तक शारीरिक बनावट का प्रश्न है, अंश रूप जीवों तथा विष्णुमूर्ति के विस्तारों (अंशों) में कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में, भगवान् की कृपा से मुक्त होने पर जीव को आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है।

ममैवांशः शब्द भी अत्यन्त सार्थक है, जिसका अर्थ है भगवान् के अंश। भगवान् का अंश ऐसा नहीं होता, जैसे किसी पदार्थ का टूटा खंड (अंश)। हम द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं कि आत्मा के खंड नहीं किये जा सकते। इस खंड की भौतिक दृष्टि से अनुभूति नहीं हो पाती। यह पदार्थ की भाँति नहीं है, जिसे चाहो तो कितने ही खण्ड कर दो और उन्हें पुनः जोड़ दो। ऐसी विचारधारा यहाँ पर लागू नहीं होती, क्योंकि संस्कृत के *सनातन* शब्द का प्रयोग हुआ है। विभिन्नांश सनातन है। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में भगवान् का अंश विद्यमान है (*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे*)। वह अंश जब शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक में अपना आदि आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर लेता है, जिससे वह भगवान् की संगति का लाभ उठाता है। किन्तु ऐसा समझा जाता है कि जीव भगवान् का अंश होने के कारण गुणात्मक दृष्टि से भगवान् के ही समान है, जिस प्रकार स्वर्ण के अंश भी स्वर्ण होते हैं।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

शरीरम्—शरीर को; **यत्**—जिस; **अवाप्नोति**—प्राप्त करता है; **यत्**—जिस; **च**—तथा; **अपि**—भी; **उत्क्रामति**—त्यागता है; **ईश्वरः**—शरीर का स्वामी; **गृहीत्वा**—ग्रहण करके; **एतानि**—इन सबको; **संयाति**—चला जाता है; **वायुः**—वायु; **गन्धान्**—महक को; **इव**—सदृश; **आशयात्**—स्रोत से।

इस संसार में जीव अपनी देहात्मबुद्धि को एक शरीर से दूसरे में उसी तरह ले जाता है, जिस तरह वायु सुगन्धि को ले जाता है। इस प्रकार वह एक शरीर धारण करता है और फिर इसे त्याग कर दूसरा शरीर धारण करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर जीव को ईश्वर अर्थात् अपने शरीर का नियामक कहा गया है। यदि वह चाहे तो अपने शरीर को त्याग कर उच्चतर योनि में जा सकता है और चाहे तो निम्नयोनि में जा सकता है। इस विषय में उसे थोड़ी स्वतन्त्रता प्राप्त है। शरीर में जो परिवर्तन होता है, वह उस पर निर्भर करता है। मृत्यु के समय वह जैसी चेतना बनाये रखता है, वही उसे दूसरे शरीर तक ले जाती है। यदि वह कुत्ते या बिल्ली जैसी चेतना बनाता है, तो उसे कुत्ते या बिल्ली का शरीर प्राप्त होता है। यदि वह अपनी चेतना दैवी गुणों में स्थित करता है, तो उसे देवता का स्वरूप प्राप्त होता है। और यदि वह कृष्णभावनामृत में होता है, तो वह आध्यात्मिक जगत में कृष्णलोक को जाता है, जहाँ उसका सान्निध्य कृष्ण से होता है। यह दावा मिथ्या है कि इस शरीर के नाश होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तरण करता है, और वर्तमान शरीर तथा वर्तमान कार्यकलाप ही अगले शरीर का आधार बनते हैं। कर्म के अनुसार भिन्न शरीर प्राप्त होता है और समय आने पर यह शरीर त्यागना होता है। यहाँ यह कहा गया है कि सूक्ष्म शरीर, जो अगले शरीर का बीज वहन करता है, अगले जीवन में दूसरा शरीर निर्माण करता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तरण की प्रक्रिया तथा शरीर में रहते हुए संघर्ष करने को *कर्षति* अर्थात् जीवन संघर्ष कहते हैं।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।। ९।।

श्रोत्रम्—कान; **चक्षुः**—आँखें; **स्पर्शनम्**—स्पर्श; **च**—भी; **रसनम्**—जीभ; **घ्राणम्**—सूँघने की शक्ति; **एव**—भी; **च**—तथा; **अधिष्ठाय**—स्थित होकर; **मनः**—मन; **च**—भी; **अयम्**—यह; **विषयान्**—इन्द्रियविषयों को; **उपसेवते**—भोग करता है।

इस प्रकार दूसरा स्थूल शरीर धारण करके जीव विशेष प्रकार का कान, आँख, जीभ, नाक तथा स्पर्श इन्द्रिय (त्वचा) प्राप्त करता है, जो मन के चारों ओर संपुंजित हैं। इस प्रकार वह इन्द्रियविषयों के एक विशिष्ट समुच्चय का भोग करता है।

तात्पर्य : दूसरे शब्दों में, यदि जीव अपनी चेतना को कुत्तों तथा बिल्लियों के गुणों जैसा बना देता है, तो उसे अगले जन्म में कुत्ते या बिल्ली का शरीर प्राप्त होता है, जिसका वह भोग करता है। चेतना मूलतः जल के समान विमल होती है, लेकिन यदि हम जल में रंग मिला देते हैं, तो उसका रंग बदल जाता है। इसी प्रकार से चेतना भी शुद्ध है, क्योंकि आत्मा शुद्ध है लेकिन भौतिक गुणों की संगति के अनुसार चेतना बदलती जाती है। वास्तविक चेतना तो कृष्णभावनामृत है, अतः जब कोई कृष्णभावनामृत में स्थित होता है, तो वह शुद्धतर जीवन बिताता है। लेकिन यदि उसकी चेतना किसी भौतिक प्रवृत्ति से मिश्रित हो जाती है, तो अगले जीवन में उसे वैसा ही शरीर मिलता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसे पुनः मनुष्य शरीर प्राप्त हो—वह कुत्ता, बिल्ली, सूकर, देवता या चौरासी लाख योनियों में से कोई भी रूप प्राप्त कर सकता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।। १०।।

उत्क्रामन्तम्—शरीर त्यागते हुए; **स्थितम्**—शरीर में रहते हुए; **वा अपि**—अथवा; **भुञ्जानम्**—भोग करते हुए; **वा**—अथवा; **गुण-अन्वितम्**—प्रकृति के गुणों के अधीन; **विमूढाः**—मूर्ख व्यक्ति; **न**—कभी नहीं; **अनुपश्यन्ति**—देख सकते हैं; **पश्यन्ति**—देख सकते हैं; **ज्ञान-चक्षुषः**—ज्ञान रूपी आँखों वाले।

मूर्ख न तो समझ पाते हैं कि जीव किस प्रकार अपना शरीर त्याग सकता है, न ही वे यह समझ पाते हैं कि प्रकृति के गुणों के अधीन वह किस तरह के शरीर का भोग करता है। लेकिन जिसकी आँखें ज्ञान में प्रशिक्षित होती हैं, वह यह सब देख सकता है।

तात्पर्य : *ज्ञान-चक्षुषः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिना ज्ञान के कोई न तो यह समझ सकता है कि जीव इस शरीर को किस प्रकार त्यागता है, न ही यह कि वह अगले जीवन में कैसा शरीर धारण करने जा रहा है, अथवा यह कि वह विशेष प्रकार के शरीर में क्यों रह रहा है। इसके लिए पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसे प्रामाणिक गुरु से *भगवद्गीता* तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों को सुन कर समझा जा सकता